दृश्य-कुंज

भारतेन्दु, राय, प्रसाद और मिलिन्द के
नाटकों के दृश्यों का संकलन

संपादक

भगवद्दत्त, बी. ए.

तथा

इन्द्र, एम. ए., एम. ओ. एल.

काव्यतीर्थ, शास्त्री, विद्यालंकार

मूल्य १)

1940

ATMA RAM & SONS

EDUCATIONAL PUBLISHERS & BOOKSELLERS

LAHORE

Published by
Brij Lal Pury of Messrs. Atma Ram & Sons
Booksellers, Publishers & Printers
Anarkali, Lahore

Printed by
D. C. Narang, at The H. B. Press
Lahore

PREFACE

The history of the Indian drama is an old one. But plays, in the Hindi literature, are of a recent origin. It is curious that while an abundance of literature on stories and novels is being produced every year, no serious attention is being paid by gifted writers to the production of dramas. However, it is encouraging to find that the Indian Universities are giving an impetus to the study of this important branch of knowledge by according it a prominent place in their curricula.

In the following pages, an attempt has been made to make a beautiful selection of the extant Hindi dramas. Particular pains have been taken to avoid all that may prove distasteful to the general Hindi readers and prejudicial to the character of Indian students. Besides, coherence has been aimed at throughout—to make a consistent presentation of themes in a selection.

Bharatendu's '*Satya Harishchandra*'—a classical piece of art, yet unsurpassed by any dramatic work in Hindi, has been given a place of honour—which it undoubtedly deserves. Its difficulties, however, have been weeded out to make it a simple narration of the story. *Sita*—another exquisite piece of art, has been gathered from the immortal works of the late renowned Bengali Dramatist—D. L. Rai. It will bring home to the young Indian students—the immaculate chastity of that pious consort of Shri Rama.

One more modern author also has been included in the selection in recognition of his pioneer work in the field of Hindi dramas. We acknowledge with gratitude the debt we owe to all these authors whose work we have utlised in our selection.

In the end we confidently hope that the selection will be appreciated by the Hindi reading public in general and young Indian students in particular.

BHAGVADDATTA.

15th Sept., 1936. INDRA.

सूची

सत्यहरिश्चन्द्र

(भारतेन्दु हरिश्चन्द्र)

नाटक के पात्र

हरिश्चन्द्र,	अयोध्या के राजा, नाटक के नायक
शैव्या,	अयोध्या की रानी
रोहिताश्व,	राजा हरिश्चन्द्र का पुत्र
विश्वामित्र,	एक क्रोधी ऋषि
भगवान्(विष्णु),	देवता
महादेव,	देवता
पार्वती,	देवता
धर्म,	चांडाल के रूप में
सत्य,	चांडाल के अनुचर के रूप में
उपाध्याय,	एक ब्राह्मण जो शैव्या को दासी रूप में खरीदता है
बटुक,	उपाध्याय का शिष्य

सत्य-हरिश्चन्द्र

पहला दृश्य

स्थान—अयोध्या का राजभवन

(रानी शैव्या चिन्तातुर बैठी है। परिकर-सहित महाराज हरिश्चन्द्र आते हैं। रानी प्रणाम करती है और सब लोग यथास्थान बैठते हैं)

हरि०—(रानी से प्रीतिपूर्वक) **प्रिये ! आज तुम्हारा मुख-चन्द्र मलिन क्यों हो रहा है ?**

रानी—पिछली रात मैंने कुछ दुःस्वप्न ऐसे देखे हैं जिनसे चित्त व्याकुल हो रहा है।

हरि०—**प्रिये ! स्त्रियों का स्वभाव सहज ही भीरु होता है, पर तुम तो वीर-कन्या, वीर-पत्नी और वीर-माता हो, तुम्हारा स्वभाव ऐसा क्यों ?**

रानी—नाथ ! मोह से धीरज जाता रहता है।

हरि०—गुरुजी से कुछ शांति करने को नहीं कहलाया ?

रानी—महाराज ! शांति तो गुरु जी ने कर दी है ।

हरि०—तब क्या चिन्ता है ! शास्त्र और ईश्वर पर विश्वास रखो, सब कल्याण होगा । सदा सर्वदा सहज मंगल-साधन करते भी जो आपत्ति आ पड़े तो उसे निरी ईश्वर की इच्छा ही समझ के सन्तोष करना चाहिये ।

रानी—महाराज ! स्वप्न के शुभाशुभ का विचार कुछ महाराज ने ग्रन्थों में देखा है ?

हरि०—(रानी की बात अनसुनी करके) स्वप्न तो कुछ हमने भी देखा है । (चिन्तापूर्वक स्मरण करके) हाँ, यह देखा है कि एक क्रोधी ब्राह्मण विद्यासाधन करने को सब दिव्य महाविद्याओं को खींचता है और जब मैं स्त्री जानकर उनको बचाने गया हूँ तो वह मुझी से रुष्ट हो गया है और फिर जब बड़े विनय से मैंने उसे मनाया है तो उसने मुझसे मेरा सारा राज्य माँगा है, मैंने उसे प्रसन्न करने को अपना सब राज्य दे दिया ।

(इतना कह कर अत्यन्त व्याकुलता नाट्य करता है)

रानी—नाथ ! आप एक साथ ऐसे व्याकुल क्यों हो गये ?

हरि०—मैं यह सोचता हूँ कि अब उस ब्राह्मण को कहाँ पाऊँगा और बिना उसकी थाती उसे सौंपे भोजन कैसे करूँगा ?

रानी—नाथ ! क्या स्वप्न के व्यवहार को भी आप सत्य मानिएगा ?

हरि०—प्रिये ! हरिश्चन्द्र की अर्द्धाङ्गिनी होकर तुम्हें ऐसा कहना उचित नहीं । हा ! भला तुम ऐसी बात मुँह से निकालती हो ? स्वप्न किसने देखा ? मैंने न । फिर क्या ? स्वप्न-संसार अपने काल में असत्य है, इसका कौन प्रमाण है ? और जो अब असत्य कहो तो मरने के पीछे तो यह संसार भी असत्य है, फिर उसमें परलोक के हेतु लोग धर्माचरण क्यों करते हैं । दिया सो दिया, क्या स्वप्न में क्या प्रत्यक्ष !

रानी—(हाथ जोड़ कर) नाथ ! क्षमा कीजिए, स्त्री की बुद्धि ही कितनी !

हरि०—(चिन्ता करके) पर मैं अब करूँ क्या ? अच्छा, प्रधान, नगर में डौंडी पिटवा दो कि राज्य को सब लोग आज से अज्ञात-नाम-गोत्र ब्राह्मण का समझें । उसके अभाव में हरिश्चन्द्र उसके सेवक की भाँति उसकी थाती समझ के राजकार्य करेगा और दो मोहर राजकाज के हेतु बनवा लो, एक पर "अज्ञात-नाम-गोत्र ब्राह्मण महाराज का सेवक हरिश्चन्द्र" और दूसरे पर "राजाधिराज अज्ञात-नाम-गोत्र ब्राह्मण

महाराज" खुदा रहे और आज से राजकाज के सब पत्रों पर भी यही नाम रहे। देश के राजाओं और बड़े-बड़े कार्याधीशों को भी आज्ञापत्र भेज दो कि महाराज हरिश्चन्द्र ने स्वप्न में "अज्ञात-नाम-गोत्र ब्राह्मण" को पृथ्वी दी है, इससे आज से उसका राज्य हरिश्चन्द्र मंत्री की भाँति सँभालेगा।

(द्वारपाल आता है)

द्वार०—महाराजाधिराज ! एक बड़ा क्रोधी ब्राह्मण दरवाज़े पर खड़ा है और व्यर्थ ही हम लोगों को गाली देता है।

हरि०—(घबड़ा कर) अभी आदरपूर्वक ले आओ।

द्वार०—जो आज्ञा। (जाता है)

हरि०—यदि ईश्वरेच्छा से यह वही ब्राह्मण हो तो बड़ी बात है।

(द्वारपाल के साथ विश्वामित्र आते हैं)

हरि०—(आदरपूर्वक आगे से लेकर और प्रणाम करके) महाराज ! पधारिए, यह आसन है।

विश्वा०—बैठ चुके, बोल अभी तूने मुझे पहचाना कि नहीं ?

हरि०—(घबड़ा कर) महाराज ! पूर्वपरिचित तो आप ज्ञात होते हैं।

विश्वा०—(क्रोध से) सच है रे क्षत्रियाधम ! तू काहे को पहिचानेगा। सच है रे सूर्यकुलकलंक ! तू क्यों पहिचानेगा ? धिक्कार है तेरे मिथ्या-धर्माभिमान को। ऐसे ही लोग पृथ्वी को अपने बोझ से दबाते हैं। अरे दुष्ट ! तू भूल गया, कल पृथ्वी किसको दान दी थी ? ठहर, ठहर देख, इस झूठ का कैसा फल भोगता है। हा ! इसे देख कर क्रोध से जैसे मेरी दाहिनी भुजा शाप देने को उठती है वैसे ही जातिस्मरण के संस्कार से बांई भुजा फिर से कृपाण धारण किया चाहती है। (अत्यन्त क्रोध से लम्बी साँस लेकर और बाँह उठाकर) अरे ब्रह्मा ! सम्हाल अपनी सृष्टि को, नहीं तो मेरे आज इस असह्य क्रोध से सारा संसार नाश हो जायगा। अथवा संसार के नाश से क्या ! ब्रह्मा का तो गर्व उसी दिन मैंने चूर्ण किया जिस दिन दूसरी सृष्टि बनाई। आज इस राज-कुलांगार का अभिमान चूर्ण करूँगा जो मिथ्या अहंकार के बल से जगत् में दानी प्रसिद्ध हो रहा है।

हरि०—(पैरों पर गिरके) महाराज ! क्षमा कीजिए। सारी पृथ्वी आपकी, मैं आपका, भला आप ऐसी क्षुद्र बात मुँह से निकालते हैं ! (ईषत् क्रोध से) और आप

बारंबार मुझे झूठा न कहिए। सुनिए मेरी यह प्रतिज्ञा है—

"चन्द टरै सूरज टरै, टरै जगत् ब्योहार।
पै दृढ़ श्रीहरिचन्द को, टरै न सत्य-विचार॥"

विश्वा०—(क्रोध और अनादर पूर्वक हँस कर) हहहह! सच है, सच है रे मूढ़! क्यों नहीं, आखिर सूर्यवंशी है। तो दे हमारी पृथ्वी।

हरि०—लीजिए, इस में बिलम्ब क्या है? मैंने तो आपके आगमन के पूर्व ही से अपना अधिकार छोड़ दिया है। (पृथ्वी की ओर देखकर)

जेहि पाली इक्ष्वाकु सों, अब लौं रवि-कुल-राज।
ताहि देत हरिचन्द नृप, विश्वामित्रहिं आज॥

विश्वा०—(आप ही आप) अच्छा! अभी अभिमान दिखा ले। तो मेरा नाम विश्वामित्र, जो तुझको सत्यभ्रष्ट करके छोड़ा और लक्ष्मी से तो हो ही चुका है। (प्रकट) अब उस महादान की दक्षिणा कहाँ है?

हरि०—महाराज! जो आज्ञा हो वह दक्षिणा अभी आती है।

विश्वा०—भला सहस्र स्वर्णमुद्रा से कम इतने बड़े दान की दक्षिणा क्या होगी?

हरि०—जो आज्ञा (मंत्री से) मंत्री ! हज़ार स्वर्णमुद्रा अभी लाओ ।

विश्वा०—(क्रोध से) "मंत्री, हज़ार स्वर्णमुद्रा अभी लाओ" मंत्री कहाँ से लावेगा ? क्या अब खज़ाना तेरा है ? झूठा कहीं का, देना नहीं था तो मुँह से कहा क्यों ? चल, मैं नहीं लेता ऐसे मनुष्य की दक्षिणा ।

हरि०—(हाथ जोड़कर विनय से) महाराज, ठीक है । खज़ाना अब सब आपका है, मैं भूला, क्षमा कीजिए । क्या हुआ, खज़ाना नहीं है तो मेरा शरीर तो है ।

विश्वा०—एक महीना में जो मुझे दक्षिणा न मिलेगी तो मैं तुझपर कठिन ब्रह्मदण्ड गिराऊँगा । देख; केवल एक मास की अवधि है ।

हरि०—महाराज ! मैं ब्रह्मदण्ड से उतना नहीं डरता जितना सत्यदण्ड से । इससे—

बेचि देह दारा सुअन, होइ दासहू मन्द ।
रखिहै निज बच सत्य करि, अभिमानी हरिचन्द ॥

(आकाश से पुष्प-वृष्टि और बाजे के साथ जयध्वनि होती है)

दूसरा दृश्य

स्थान—काशी के घाट किनारे की सड़क

(महाराज हरिश्चन्द्र घूमते हुए दिखाई देते हैं)

हरि०—देखो काशी भी पहुँच गये ! अहा ! धन्य है काशी ! भगवति वाराणसी ! तुम्हें अनेक प्रणाम हैं। काशी की कैसी अनुपम शोभा है। और जैसे ईश्वर ने सुन्दर अँगूठी के नगीने का सा यह नगर बनाया है वैसे ही गंगा सी नदी भी इसके वास्ते दी है। (कुछ सोचकर) पर हाँ ! जो अपना जी दुखी होता है तो सारा संसार सूना जान पड़ता है। विश्वामित्र को पृथ्वी दान करके जितना चित्त प्रसन्न नहीं हुआ उतना अब बिना दक्षिणा दिये दुखी होता है। हा ! कैसे कष्ट की बात है। राज-पाट धन-धाम सब छूटा, अब दक्षिणा कहाँ से देंगे ! क्या करें ! हम सत्य धर्म कभी छोड़ेहींगे नहीं; और मुनि ऐसे क्रोधी हैं कि बिना दक्षिणा मिले शाप देने को तैयार होंगे और जो वह शाप न दंगे तो क्या ? हम ब्राह्मण का ऋण चुकाये बिना शरीर भी तो नहीं

त्याग सकते। क्या करें? कुबेर को जीतकर धन लावें पर कोई शस्त्र भी तो नहीं है। तो क्या किसी से माँग कर दें? पर क्षत्रिय का तो धर्म नहीं कि किसी के आगे हाथ पसारे। फिर ऋण काढ़ें? फिर देंगे कहाँ से? हा! देखो काशी में आकर लोग संसार के बन्धन से छूटते हैं पर हम को यहाँ भी हाय-हाय मची है। हा! पृथ्वी! तू फट क्यों नहीं जाती कि मैं अपना कलंकित मुँह किसी को न दिखाऊँ! (आतंक से) पर यह क्या? सूर्य्यवंश में उत्पन्न होकर हमारे यह कर्म हैं कि ब्राह्मण का ऋण दिए बिना पृथ्वी में समा जाना सोचें। (कुछ सोचकर) हमारी तो इस समय कुछ बुद्धि ही नहीं काम करती। क्या करें? हमें तो संसार सूना देख पड़ता है। (चिन्ता करके एक साथ हर्ष से) वाह अभी तो स्त्री, पुत्र और हम तीन-तीन मनुष्य तैयार हैं। क्या हम लोगों के बिकने से सहस्र स्वर्ण-मुद्रा भी न मिलेंगी? तब फिर किस बात का इतना सोच? न जाने बुद्धि इतनी देर तक कहाँ सोई थी। हमने तो पहले ही विश्वामित्र से कहा था—

बेचि देह दारा सुअन, होई दासहु मन्द।
रखिहै निज बच सत्य करि, अभिमानी हरिचन्द॥

(नेपथ्य में) तो क्यों नहीं जल्दी अपने को बेचता? क्या हमें और काम नहीं कि तेरे पीछे-पीछे दक्षिणा के वास्ते लगे फिरें?

हरि०—अरे मुनि तो आ पहुँचे। क्या हुआ, आज उनसे एक दो दिन की अवधि और लेंगे।

(विश्वामित्र आते हैं)

विश्वा०—(आप ही आप) हमारी विद्या सिद्ध हुई भी इसी दुष्ट के कारण बहक गई तभी से हमारा इस पर क्रोध है। पर क्या करें, इसके सत्य धैर्य और विनय के आगे हमारा क्रोध कुछ काम नहीं करता। यद्यपि यह राज्यभ्रष्ट हो चुका पर जब तक इसे सत्य-भ्रष्ट न कर लूँगा तब तक मेरा सन्तोष न होगा। (आगे देखकर) अरे! यही दुरात्मा (कुछ देखकर) वा महात्मा हरिश्चन्द्र है (प्रकट) क्यों रे! आज महीने में कै दिन बाकी हैं? बोल कब दक्षिणा देगा?

हरि०—(घबड़ाकर) अहा! महात्मा कौशिक! भगवन्! प्रणाम करता हूँ। (दण्डवत् करता है)

विश्वा०—हुई प्रणाम, बोल तूने दक्षिणा देने को क्या उपाय किया ? आज महीना पूरा हुआ, अब मैं एक क्षणभर भी न मानूँगा। दे अभी, नहीं तो—(शाप के वास्ते कमण्डल से जल हाथ में लेते हैं)।

हरि०—(पैरों पर गिरकर) भगवन् ! क्षमा कीजिए। यदि आज सूर्यास्त के पहले मैं न दूँ तो जो चाहे कीजिएगा। मैं अभी अपने को बेच कर मुद्रा ले आता हूँ।

विश्वा०—(आप ही आप) वाह रे महानुभावता ! (प्रगट) अच्छा आज साँझ तक और सही। साँझ को न देगा तो मैं शाप ही न दूँगा; वरंच त्रैलोक्य में आज ही विदित कर दूँगा कि हरिश्चन्द्र सत्यभ्रष्ट हुआ !

(जाते हैं)

हरि०—भला किसी तरह मुनि से प्राण बचे। अब चलें अपना शरीर बेचकर दक्षिणा देने का उपाय सोचें। हा ! ऋण भी कैसी बुरी वस्तु है। इस लोक में वही मनुष्य कृतार्थ है जिसने ऋण चुका देने को कभी क्रोधी और क्रूर लेनदार की लाल-लाल आँखें नहीं देखी हैं। (आगे चलकर) अरे क्या बाज़ार में आ गये, अच्छा, (सिर पर तृण रखकर) अरे सुनो भाई सेठ-साहूकार, महाजन-दुकानदारो, हम किसी कारण

से अपने को हज़ार मोहर पर बेचते हैं, किसी को लेना हो तो लो। (इसी तरह कहता हुआ इधर उधर फिरता है) देखो कोई दिन वह था कि इसी मनुष्य-विक्रय को अनुचित जानकर हम दूसरे को दण्ड देते थे, पर आज वही कर्म हम आप करते हैं। दैव बली है। (अरे सुनो भाई इत्यादि कहता हुआ इधर-उधर फिरता है) (ऊपर देखकर) क्या कहा? "क्यों तुम ऐसा दुष्कर कर्म करते हो?" "आर्य यह बात मत पूछो, यह सब कर्म की गति है।" (ऊपर देखकर) क्या कहा? "तुम क्या कर सकते हो, क्या समझते हो, और किस तरह रहोगे?" इसका क्या पूछना है। स्वामी जो कहेगा वह करेंगे, समझते सब कुछ हैं पर इस अवसर पर समझना कुछ काम नहीं आता, और जैसे स्वामी रक्खेगा वैसे रहेंगे। जब अपने को बेच ही दिया तब इसका क्या विचार है। (ऊपर देखकर) क्या कहा? "कुछ दाम कम करो।" आर्य हम लोग तो क्षत्रिय हैं, हम दो बातें कहाँ से जानें। जो कुछ ठीक था कह दिया।

(नेपथ्य में से)

आर्यपुत्र! ऐसे समय में हमको छोड़े जाते हो?

तुम दास होगे तो मैं स्वाधीन रहकर क्या करूँगी ? स्त्री को अर्द्धाङ्गिनी कहते हैं, इससे पहिले बायाँ अङ्ग बेच लो तब दाहिना अङ्ग बेचो ।

हरि०—(सुनकर बड़े शोक से) हा ! रानी की यह दशा इन आँखों से कैसे देखी जायगी ?

(सड़क पर शैव्या और बालक फिरते हुए दिखाई पड़ते हैं)

शैव्या—कोई महात्मा, कृपा करके हम को मोल ले तो बड़ा उपकार हो ।

बालक—अमको बी कोई मोल ले तो बला उपकाल ओ ।

शैव्या—(आँखों में आँसू भरकर) पुत्र ! चन्द्र-कुल-भूषण महाराजा वीरसेन का नाती और सूर्यकुल की शोभा महाराज हरिश्चन्द्र का पुत्र होकर तू क्यों ऐसे कातर वचन कहता है ? मैं अभी जीती हूँ । (रोती है)

बालक—(माँ का आँचल पकड़ के) आँ तुमको कोई मोल लेगा तो अमको बी मोल लेगा । आँ माँ, लोती काए को औ । (कुछ रोना सा मुँह बनाकर शैव्या का आँचल पकड़ कर झूलने लगता है)

शैव्या—(आँसूँ पोंछ कर) मेरे भाग्य से पूछ ।

हरि०—अहह ! भाग्य ! यह भी तुम्हें देखना था ? हा ! अयोध्या की प्रजा रोती रह गई, हम उनको कुछ

धीरज भी न दे आए। उनकी अब कौन गति होगी ? हा ! यह नहीं कि राज छूटने पर भी छुटकारा हो, अब यह देखना पड़ा। हृदय ! तुम इस चक्रवर्त्ती की सेवा योग्य बालक और स्त्री को बिकता देखकर टुकड़े-टुकड़े क्यों नहीं हो जाते ? (बारंबार लम्बी साँस लेकर आँसू बहाता है)

शैव्या—(कोई महात्मा इत्यादि कहती हुई ऊपर देखकर) क्या कहा ? "क्या क्या करोगी ?" पर-पुरुष से सम्भाषण और उच्छिष्ट भोजन छोड़ कर और सब सेवा करूँगी। (ऊपर देखकर) क्या कहा "इतने मोल पर कौन लेगा ?" आर्य ! कोई साधु ब्राह्मण महात्मा कृपा करके ले ही लेंगे।

(उपाध्याय और बटुक आते हैं)

उपा०—क्यों रे कौंडिन्य ! सच ही दासी बिकती है ?

बटु०—हाँ गुरुजी, क्या मैं भूठ कहूँगा। आप ही देख लीजिएगा।

उपा०—तो चल, आगे-आगे भीड़ हटाता चल। देख भीड़ के मारे पैर धरने की जगह नहीं है और मारे कोलाहल के कान नहीं दिया जाता।

बटु०—(आगे आगे चलता हुआ) हटो, भाई हटो। (कुछ

आगे बढ़कर) गुरु जी, यह जहाँ भीड़ लगी है वहीं होगी।

उपा०—(शैव्या को देखकर) अरे यही दासी बिकती है ?

(शैव्या 'अरे कोई हमको मोल ले' इत्यादि कहती और रोती है। बालक भी माता की भाँति तोतली बोली से कहता है)

उपा०—पुत्री ! कहो तुम कौन-कौन सेवा करोगी ?

शैव्या—पर-पुरुष से सम्भाषण और उच्छिष्ट-भोजन छोड़कर औ जो-जो कहिएगा, सब सेवा करूँगी।

उपा०—वाह ! ठीक है ! अच्छा, लो यह सुवर्ण । हमारी ब्राह्मणी अग्निहोत्र की अग्नि की सेवा से घर के काम-काज नहीं कर सकती सो तुम सम्हालना।

शैव्या—(हाथ फैलाकर) महाराज । आपने बड़ा उपकार किया।

उपा०—(शैव्या को भली-भाँति देखकर आप ही आप) अहा ! यह निस्सन्देह किसी बड़े कुल की है। इसका मुख सहज लज्जा से ऊँचा नहीं होता और दृष्टि बराबर पैर ही पर है। जो बोलती है धीरे-धीरे और बहुत सम्हाल कर बोलती है। हा ! इसकी यह गति क्यों हुई ! (प्रकट) पुत्री तुम्हारे पति हैं न ?

(शैव्या राजा की ओर देखती है)

हरि०—(आप ही आप दुःख से) अब नहीं है। पति के होते भी ऐसी स्त्री की यह दशा हो !

उपा०—(राजा को देखकर आश्चर्य से) अरे यह विशाल-नेत्र, प्रशस्त वक्षस्थल और संसार की रक्षा करने के योग्य लंबी-लंबी भुजावाला कौन मनुष्य है, और मुकुट के योग्य सिर पर तृण क्यों रक्खा है ? (प्रकट) महात्मा ! तुम हमको अपने दुःख का भागी समझो और कृपापूर्वक अपना सब वृत्तान्त कहो।

हरि०—भगवन् ! और तो विदित करने का अवसर नहीं है, इतना ही कह सकता हूँ कि ब्राह्मण के ऋण के कारण यह दशा हुई।

उपा०—तो हम से धन लेकर आप शीघ्र ही ऋण-मुक्त हूजिए।

हरि०—(दोनों कानों पर हाथ रखकर) राम-राम ! यह तो ब्राह्मण की वृत्ति है। आप से धन ले कर हमारी कौन गति होगी ?

उपा०—तो पाँच सौ मोहर पर आप दोनों में से जो चाहे सो हमारे संग चले।

शैव्या—(राजा से हाथ जोड़ कर) नाथ ! हमारे आछत

आप मत बिकिए, जिसमें हमको अपनी आँख से यह न देखना पड़े, हमारी इतनी विनती मानिए। (रोती है)

हरि०—(आँसू रोककर) अच्छा ! तुम्हीं जाओ । (आप ही आप) हा ! यह वज्रहृदय हरिश्चन्द्र ही का है कि अब भी [illegible] विदीर्ण होता !

शैव्या—(राजा के [illegible] में सोना बाँधती हुई) नाथ ! अब तो दर्शन भी दुर्लभ होंगे । (रोती हुई उपाध्यायसे) आर्य्य ! आप क्षण भर क्षमा करें तो मैं आर्य्यपुत्र का भलीभाँति दर्शन कर लूँ । फिर यह मुख कहाँ और मैं कहाँ !

उपा०—हाँ ! हाँ ! मैं जाता हूँ, कौडिण्य यहाँ है, तुम उसके साथ आना । (जाता है)

शैव्या—नाथ ! मेरे अपराधों को क्षमा करना ।

हरि०—(अत्यन्त घबड़ा कर) अरे, अरे विधाता ! तुझे यही करना था ! (आप ही आप) हा ! पहिले महारानी बनाकर अब दैव ने इसे दासी बनाया । यह भी देखना बदा था । हमारी इस दुर्गति से आज कुल-गुरु भगवान् सूर्य का भी मुख मलिन हो रहा है । (रोता हुआ, प्रकट रानी से) प्रिये !

सर्वभाव से उपाध्याय को प्रसन्न रखना और सेवा करना।

शैव्या—(रोकर) नाथ ! जो आज्ञा।

बटुक—उपाध्याय जी गए, अब चलो जल्दी करो।

हरि०—(आँखों में आँसू भर के) देवी ! (फिर रुक कर अत्यन्त सोच से आप ही आप) हाय ! अब मैं देवी क्यों कहता हूँ, अब तो विधाता ने इसे दासी बनाया। (धैर्य से) देवी, उपाध्याय की आराधना भलीभाँति करना और उनके सब शिष्यों से भी सुहृद्-भाव रखना, ब्राह्मण की स्त्री की प्रीतिपूर्वक सेवा करना, बालक का यथासम्भव पालन करना और अपने धर्म और प्राण की रक्षा करना। विशेष हम क्या समझावें, जो-जो दैव दिखावे उसे धीरज से देखना। (आँसू बहाते हैं)

शैव्या—जो आज्ञा। (राजा के पैरां पर गिर कर रोती है)

हरि०—(धैर्यपूर्वक) प्रिये ! देर न करो, बटुक घबड़ा रहे हैं। (शैव्या उठाकर रोती और राजा की ओर देखती हुई धीरे धीरे चलती है)

बालक—(राजा से) पिता, माँ कआँ जाती ऐं ?

हरि०—(धैर्य से आँसू रोकरर) जहाँ हमारे भाग्य ने उसे दासी बनाया है।

बालक—(बटुक से) **अले माँ को मत ले जा।** (माँ का आँचल पकड़ के खींचता है)

बटुक—(बालक को ढकेल कर) **चल-चल देर होती है ।** (बालक को ढकेलने से गिर कर रोता हुआ उठकर अत्यन्त क्रोध और करुणा से माता-पिता की ओर देखता है)

हरि०—ब्राह्मण देवता, बालकों के अपराध से नहीं रुष्ट होना। (बालक को उठाकर धूल पोछ के मुँह चूमता हुआ) **पुत्र, मुझ चाँडाल का मुख इस समय ऐसे क्रोध से क्यों देखता है? ब्राह्मण का क्रोध तो सभी दशा में सहना चाहिए। जाओ माता के संग, मुझ भाग्यहीन के साथ रह कर क्या करोगे?** (रानी से) **प्रिये! धैर्य धरो। अपना कुल और जाति स्मरण करो। जाओ, देर होती है।**

(रानी और बालक रोते हुए बटुक के साथ जाते हैं)

हरि०—**धन्य, हरिश्चन्द्र! तुम्हारे सिवाय ऐसा कठोर हृदय किसका होगा? संसार में धन और जन छोड़ कर लोग स्त्री की रक्षा करते हैं, पर तुमने उसका भी त्याग किया।**

(विश्वामित्र आते हैं और हरिश्चन्द्र पैर पर गिर कर प्रणाम करते हैं)

विश्वा०—ला दे दक्षिणा । अब साँझ होने में कुछ देर नहीं है ।

हरि०—(हाथ जोड़कर) महाराज, आधी लीजिए आधी अभी देता हूँ । (सोना देता है)

विश्वा०—हम आधी दक्षिणा ले के क्या करें, दे, चाहे जहाँ से सब दक्षिणा ।

(नेपथ्य में) अरे अब तो नहीं सही जाती ।

विश्वा०—हम आधा न लेंगे, चाहे जहाँ से अभी सब दे ।

(हरिश्चन्द्र 'अरे सुनो भाई सेठ-साहूकार' इत्यादि पुकारता हुआ घूमता है । चाण्डाल के वेष में धर्म और सत्य आते हैं)

धर्म०—(आश्चर्य से आप ही आप) सचमुच इस राजर्षि के समान दूसरा आज त्रिभुवन में नहीं है । (आगे बढ़कर प्रगट) अरे ! हरजनवाँ ! मोहर का सन्दूक ले आवा है न ।

सत्य०—क चौधरी ! मोहर ले के का करबो ?

धर्म०—तोह से का काम पूछै से ?

(दोनों आगे बढ़ते हुए फिरते हैं)

हरि०—('अरे सुनो भाई सेठ-साहूकार' इत्यादि दो तीन बार पुकार के इधर-उधर घूमकर) हाय ! कोई नहीं बोलता और कुलगुरु भगवान् सूर्य भी आज हमसे रुष्ट होकर

शीघ्र ही अस्ताचल जाया चाहते हैं। (घबराहट दिखाता है)

धर्म०—(आप ही आप) हाय हाय ! इस समय इस महात्मा को बड़ा ही कष्ट है। तो अब चलें आगे। (आगे बढ़कर) अरे ! अरे ! हम तुमको मोल लेंगे। लेव यह पाँच सौ मोहर लेव।

हरि०—(आनन्द से आगे बढ़कर) वाह कृपानिधान ! बड़े अवसर पर आये। लाइए, (उसको पहिचान कर) आप मोल लेंगे ?

धर्म०—हाँ हम मोल लेंगे। (सोना देना चाहता है)

हरि०—आप कौन हैं ?

धर्म०—

हम चौधरी डोम सरदार। अमल हमारा दोनों पार ॥
सब मसान पर हमरा राज। कफन माँगने का है काज ॥
सो हम तुमको लेंगे मोल। देंगे मुहर गाँठ से खोल ॥

(मत्त की भाँति चेष्टा करता है)

हरि०—(बड़े दुःख से) अहह ! बड़ा दारुण व्यसन उपस्थित हुआ है। (विश्वामित्र से) भगवन् ! मैं पैर पड़ता हूँ, मैं जन्म भर आपका दास होकर रहूँगा; मुझे चाण्डाल होने से बचाइये।

विश्वा०—छिः मूर्ख ! भला हम दास लेके क्या करेंगे ? "स्वयं दासास्तपस्विनः" ।

हरि०—(हाथ जोड़कर) जो आज्ञा कीजिए हम सब करेंगे ।

विश्वा०—सब करेगा न ? (ऊपर हाथ उठाकर) धर्म के साक्षी देवता लोग सुनें, यह कहता है कि जो आप कहेंगे, करूँगा ।

हरि०—हाँ हाँ, जो आज्ञा दीजिएगा, सब करूँगा ।

विश्वा०—तो इसी गाहक के हाथ अपने को बेचकर अभी हमारी शेष दक्षिणा चुका दे ।

हरि०—जो आज्ञा । (आप ही आप) अब कौन सोच है । (प्रगट धर्म से) तो हम एक नियम पर बिकेंगे ।

धर्म०—वह कौन ?

हरि०—भीख माँग कर खाऊँगा, कंबल ही मेरा वस्त्र होगा, और मेरा निवास आपसे दूर होगा, इसके सिवाय जो प्रभु की आज्ञा होगी, दास की भाँति करूँगा ।

धर्म०—ठीक है, लेव सोना । (दूर से राजा के आँचल में मोहर देता है)

हरि०—(लेकर हर्ष से आप ही आप)

ऋण छूट्यो पूर्यो बचन, द्विजहुँ न दीनो शाप ।
सत्य पालि चांडालहू, होइ आज मोहि दाप ॥

(प्रकट विश्वामित्र से) भगवन् ! लीजिए यह मोहर ।

विश्वा०—(मुँह चिढ़ा कर) सचमुच देता है ?

हरि०—हाँ हाँ, यह लीजिए।

(मोहर देते हैं)

विश्वा०—(लेकर) स्वस्ति। (आप ही आप) बस अब चलो बहुत परीक्षा हो चुकी।

(जाना चाहते है)

हरि०—(हाथ जोड़कर) भगवन्! दक्षिणा देने में देर होने का अपराध क्षमा हुआ न ?

विश्वा०—हाँ, क्षमा हुआ; अब हम जाते हैं।

हरि०—भगवन्! प्रणाम करता हूँ।

(विश्वामित्र आशीर्वाद देकर जाते हैं)

हरि०—अब चौधरी जी (लज्जा से रुककर) स्वामी की जो आज्ञा हो वह करें।

धर्म—(मत्त की भाँति नाचता हुआ)

जाओ अभी दक्खिनी मसान। लेव वहाँ कफ्फन का दान॥
जो कर तुमको नहीं चुकावे। सो किरिया नहीं करने पावे॥
चलो घाट पर करो निवास। भए आज से हमरे दास॥

हरि०—जो आज्ञा।

(पट-परिवर्त्तन)

तीसरा दृश्य

स्थान—दक्षिण श्मशान, नदी, पीपल का पेड़, चिता, मुरदे, कौए, सियार, कुत्ते, हड्डी इत्यादि।

(कंबल ओढ़े और एक मोटा लट्ठ लिये हुए राजा हरिश्चन्द्र दिखाई देते हैं)

हरि०—(लंबी साँस लेकर) हाय ! अब जन्म भर यही दुःख भोगना पड़ेगा। न जाने विधाता का क्रोध इतने पर भी शान्त हुआ कि नहीं। बड़ों ने सच कहा है कि दुःख से दुःख जाता है। दक्षिणा का ऋण चुका तो यह कर्म करना पड़ा। हम क्या क्या सोचें ? अपनी अनाथ प्रजा को, या दीन नातेदारों को, या अशरण नौकरों को, या रोती हुई दासियों को, या सूनी अयोध्या को, या दासी बनी महारानी को, या उस अनजान बालक को। हा ! बटुक के धक्के से गिरकर रोहिताश्व ने क्रोधभरी और रानी ने जाते समय करुणा-भरी दृष्टि से जो मेरी ओर देखा था, वह अब तक नहीं भूलता (घबड़ा कर) हा देवी ! सूर्यकुल की बहू और चन्द्रकुल की बेटी होकर तुम

बेची गई और दासी बनीं। हा! तुम अपने जिन सुकुमार हाथों से फूल की माला भी नहीं गूँथ सकती थीं उनसे बरतन कैसे माँजोगी? (मोह प्राप्त होना चाहता है, पर सँभलकर) अथवा क्या हुआ? यह तो कोई न कहेगा कि हरिश्चन्द्र ने सत्य छोड़ा।

बेचि देह दारा सुअन, होइ दासहू मंद।
राख्यो निज बच सत्य करि, अभिमानी हरिचंद॥

(लट्ठ कन्धे पर रखकर फिरता हुआ) खबरदार! खबरदार!! बिना हमसे कहे और बिना हमें आधा कफन दिए कोई संस्कार न करे। (नेपथ्य में कोलाहल सुनकर) हाय! हाय! कैसा भयंकर श्मशान है! दूर से मण्डल बाँध बाँधकर चोंच बाये डैना फैलाये कंगालों की तरह मुरदों पर गिद्ध कैसे गिरते हैं और कैसा मांस नोचकर आपस में लड़ते और चिल्लाते हैं। इधर अत्यन्त कर्णकटु अमंगल के नगाड़े की भाँति एक के शब्द की लाग में दूसरे सियार कैसे रोते हैं। इधर चट-चट करती चिता कैसी जल रही है, जिनमें कहीं से मांस के टुकड़े उड़ते हैं, कहीं लोहू या चरबी बहती है। आग का रंग मांस के सम्बन्ध से नीला पीला हो रहा है, ज्वाला घूम-घूम

कर निकलती है। आग कभी एक साथ धधक उठती है कभी मन्द हो जाती है। धुआँ चारों ओर छा रहा है। वर्षा से नदी का भयंकर प्रवाह, साँझ होने से श्मशान के पीपल पर कौओं का एक संग अमङ्गल शब्द से काँव-काँव करना और रात के आगमन से एक सन्नाटे का समय चित्त में कैसी उदासी और भय उत्पन्न करता है। अन्धकार बढ़ता ही जाता है। वर्षा के कारण इन श्मशानवासी मण्डूकों का टर-टर करना भी कैसा डरावना मालूम होता है।

इस समय यह चिता भी कैसी भयंकर मालूम पड़ती है। किसी का सिर चिता के नीचे लटक रहा है, कहीं आँच से हाथ-पैर जल कर गिर पड़े हैं, कहीं शरीर आधा जला है, कहीं बिलकुल कच्चा है, किसी को वैसे ही पानी में बहा दिया है, किसी को किनारे ही छोड़ दिया है, किसी का मुँह जल जाने से दाँत निकला हुआ भयंकर हो रहा है, और कोई आग में ऐसा जल गया है कि कहीं पता भी नहीं है। वाह रे शरीर! तेरी क्या गति होती है!!! सचमुच मरने पर इस शरीर को चटपट जला ही देना योग्य है, क्योंकि ऐसे रूप और गुण जिस शरीर में थे,

उसको कीड़ों या मछलियों से नुचवाना और सड़ाकर दुर्गन्धमय करना बहुत ही बुरा है। न कुछ शेष रहेगा न दुर्गति होगी । हा! चलो आगे चलें । (खबरदार इत्यादि कहता हुआ इधर उधर घूमता है) (ऊपर देखकर) रात हो गई, वर्षा के कारण अँधेरी बहुत ही छा रही है, हाथ से हाथ नहीं सूझता। चाण्डाल-कुल की भाँति श्मशान पर तम का भी आज राज हो रहा है । (स्मरण करके) हा ! प्रिये ! इन बरसात की रातों को तुम रो रो के बिताती होगी ! हा ! वत्स रोहिताश्व, भला हम लोगों ने तो अपना शरीर बेचा तब दास हुए तुम बिना बिके ही क्यों दास बन गए ?

जेहि सहसन परिचारिका, राखत हाथहिं हाथ ।
सो तुम लोटत धूर में, दास बालकन साथ ॥
बिन तनु बेचे बिनु दिए, बिनु जग-ज्ञान विवेक ।
दैव-सर्प दंशित भए, भोगत कष्ट अनेक ॥

(घबड़ा कर) नारायण ! नारायण ! मेरे मुख से क्या निकल गया। देवता उसकी रक्षा करें । (बाँई आँख का फड़कना दिखाकर) इसी समय में यह महा अपशकुन क्यों हुआ ? (दाहिनी भुजा का फड़कना

दिखाकर) और साथ ही यह मंगल शकुन भी ! न जाने क्या होनहार है। या अब क्या होनहार है, जो होना था सो हो चुका। अब इससे बढ़कर और कौन दशा होगी ! अब केवल मरणमात्र बाकी है। इच्छा तो यही है कि सत्य छूटने और दीन होने के पहले ही शरीर छूटे, क्योंकि इस दुष्ट चित्त का क्या ठिकाना है; पर वश क्या है ?

(नेपथ्य में रोने की आवाज़ सुन पड़ती है)

हरि०—अरे, अब सबेरा होने के समय मुरदा आया ! अथवा चांडाल-कुल का सदा कल्याण हो, हमें इससे क्या ?

(खबरदार इत्यादि कहते हुए घूमते हैं)

(नेपथ्य में) हाय ! कैसी भई ! हाय बेटा, हमें रोती छोड़ के कहाँ चले गए ? हाय हाय रे !

हरि०—अहह ! किसी दीन स्त्री का शब्द है, और शोक भी इसको पुत्र का है। हाय हाय ! हमको भी भाग्य ने क्या ही निर्दयी और बीभत्स कर्म सौंपा है ! इससे भी वस्त्र माँगना पड़ेगा।

(रोती हुई शैव्या रोहिताश्व का मुरदा लिये आती है)

शैव्या—(रोती हुई) हाय बेटा ! जब बाप ने छोड़ दिया, तब तुम भी छोड़ चले ! हाय ! हमारी विपत और

बुढ़ौती की ओर भी तुमने न देखा। हाय हाय रे! अब हमारी कौन गति होगी? (रोती है)

हरि०—हाय! हाय! इसके पति ने भी इसको छोड़ दिया है। हा! इस तपस्विनी को निष्करुण विधि ने बड़ा ही दुःख दिया है।

शैव्या—(रोती हुई) हाय बेटा! अरे आज मुझे किसने लूट लिया! हाय मेरी बोलती चिड़िया कहाँ उड़ गई? हाय! अब मैं किसका मुँह देखकर जीऊँगी? हाय! मेरी अंधी की लकड़ी कौन छीन ले गया? हाय! मेरा ऐसा सुन्दर खिलौना किसने तोड़ डाला? अरे बेटा! तू तो मरे पर भी सुन्दर लगता है! हाय रे! अरे बोलता क्यों नहीं? बेटा जल्दी बोल, देख माँ कब की पुकार रही है! बच्चा! तू तो एक ही दफे पुकारने में दौड़ कर गले से लिपट जाता था, आज क्यों नहीं बोलता?

(शव को बार-बार गले लगाती, देखती और चूमती है)

हरि०—हाय! हाय। इस दुखिया के पास तो खड़ा नहीं हुआ जाता।

शैव्या—(पागल की भाँति) अरे यह क्या हो रहा है? बेटा! कहाँ गए हो? आओ जल्दी। अरे अकेले

इस मसान में मुझे डर लगता है, यहाँ मुझको कौन ले आया है ? रे बेटा ! जल्दी आओ । अरे ! क्या कहते हो ? मैं गुरु का फूल लेने गया था, वहाँ काले साँप ने मुझे काट लिया ! हाय हाय रे!! अरे कहाँ काट लिया ? अरे कोई दौड़ के किसी गुनी को बुलाओ जो जिलावे बच्चे को । अरे वह साँप कहाँ गया, हमको क्यों नहीं काटता ? काट रे काट, क्या उस सुकुँआर बच्चे ही पर बल दिखाना था ? हमें काट । हाय ! हमको नहीं काटता । अरे यहाँ तो कोई साँप-वाँप नहीं है । मेरे लाल ! झूठ बोलना कब से सीखे ? हाय-हाय ! मैं इतना पुकारती हूँ और तुम खेलना नहीं छोड़ते ? बेटा, गुरुजी पुकार रहे हैं उनके होम की बेला निकली जाती है। देखो, बड़ी देर से वह तुम्हारे आसरे बैठे हैं। दो जल्दी उनको दूब और बेलपत्र । हाय ! हमने इतना पुकारा तुम कुछ नहीं बोलते ! (ज़ोर से) बेटा ! साँझ भई, सब विद्यार्थी लोग घर फिर आये; तुम अब तक क्यों नहीं आए ? (आगे शव देखकर) हाय-हाय रे ! अरे मेरे लाल को साँप ने सचमुच डस लिया ? हाय लाल ! हाय मेरे आँखों के उजियाले को कौन

ले गया ? हाय ! मेरा बोलता हुआ सुग्गा कहाँ उड़ गया ? बेटा ! अभी तो बोल रहे थे, अभी क्या हो गया ? हाय मेरा बसा घर आज किसने उजाड़ दिया ? हाय ! मेरी कोख में किसने आग लगा दी ? हाय, मेरा कलेजा किसने निकाल लिया ? (चिल्ला-चिल्ला कर रोती है) हाय लाल ! कहाँ गए ? अरे ! अब मैं किसका मुँह देखकर जीऊँगी रे ? हाय ! अब माँ कहके मुझको कौन पुकारेगा ? अरे आज किस बैरी की छाती ठंढी भई रे ? अरे, तेरे सुकुँआर अङ्गों पर भी काल को तनिक दया न आई। अरे बेटा ! आँख खोलो। हाय ! मैं सब विपत तुम्हारा ही मुँह देखकर सहती थी, सो अब कैसे जीती रहूँगी ? अरे लाल, एक बार तो बोलो !

(रोती है)

हरि०—न जाने क्यों इसके रोने से मेरा कलेजा फटा जाता है।

शैव्या—(रोती हुई) हाय नाथ ! अरे अपने गोद के खिलाये बच्चे की यह दशा क्यों नहीं देखते ? हाय ! अरे तुमने तो इसको हमें सौंपा था कि इसे अच्छी तरह पालना, सो हमने इसकी यह दशा कर दी। हाय ! अरे ऐसे समय में भी आकर नहीं सहाय होते। भला

एक बार लड़के का मुँह तो देख जाओ ! अरे मैं अब किसके भरोसे जीऊँगी ?

हरि०—हाय-हाय ! इसकी बातों से प्राण मुँह को चले आते हैं और मालूम होता है कि संसार उलटा जाता है, यहाँ से हट चलें। (कुछ दूर हटकर उसकी ओर देखता हुआ खड़ा हो जाता है)

शैव्या—(रोती हुई) हाय यह विपत का समुद्र कहाँ से उमड़ पड़ा ? अरे छलिया ! मुझे छल कर कहाँ भाग गया ? (देखकर) अरे ! आयुष की रेखा तो इतनी लम्बी है, फिर अभी से यह वज्र कहाँ से टूट पड़ा ! अरे ऐसा सुन्दर मुँह, बड़ी-बड़ी आँख, लम्बी लम्बी भुजा, चौड़ी छाती, गुलाब सा रंग ! हाय मरने के तुझ में कौनसे लच्छन थे जो भगवान ने तुझे मार डाला। हाय लाल ! अरे बड़े-बड़े जोतसी गुनी लोग तो कहते थे कि तुम्हारा बेटा बड़ा प्रतापी चक्रवर्ती राजा होगा, बहुत दिन जिएगा सो सब झूठ निकला। हाय ! पोथी-पत्रा, पूजा-पाठ, दान, तप, जप होम कुछ भी काम न आया। हाय तुम्हारे बाप का कठिन पुण्य भी तुम्हारा सहाय न बना और तुम चल बसे। हाय !

हरि०—अरे इन बातों से तो मुझे बड़ी शङ्का होती है। (शव को भली भाँति देखकर) अरे लड़के में तो सब लक्षण चक्रवर्ती के से दिखाई पड़ते हैं। हाय! न जाने किस बड़े कुल का दीपक आज इसने बुझाया है। और न जाने किस नगर को आज इसने अनाथ किया है। हाय! रोहिताश्व भी इतना बड़ा भया होगा (बड़े सोच से) हाय हाय! मेरे मुँह से क्या अमंगल निकल गया, नारायण! [सोचता है]

शैव्या—भगवान् विश्वामित्र! आज तुम्हारे सब मनोरथ पूरे भये! हाय!

हरि०—(घबड़ा कर) हाय हाय! यह क्या? (भली-भाँति देखकर रोता हुआ) हाय! अब तक मैं सन्देह ही में पड़ा हूँ। अरे मेरी आँखें कहाँ गई थीं जिनने अब तक पुत्र रोहिताश्व को न पहिचाना, और कान कहाँ गये थे जिनने अब तक महारानी की बोली नहीं सुनी। हा पुत्र! हा लाल! हा सूर्यवंश के अंकुर! हा हरिश्चन्द्र की विपत्ति के एकमात्र अवलम्ब! हाय! तुम ऐसे कठिन समय में दुखिया माँ को छोड़ कहाँ गये। अरे तुम्हारे कोमल अङ्गों को क्या हो गया? तुम ने क्या खेला, क्या खाया, क्या सुख

भोगा कि अभी से चल बसे ? पुत्र ! स्वर्ग ऐसा ही प्यारा था तो मुझ से कहते, मैं अपने बाहुबल से तुम को इसी शरीर से स्वर्ग पहुँचा देता। अथवा अब इस अभिमान से क्या ! भगवान् इसी अभिमान का फल यह सब दे रहा है। हाय पुत्र ! (रोता है) आह ! मुझ से बढ़कर कौन मन्दभाग्य होगा ! राज्य गया, धन, जन, कुटम्ब सब छूटा, उस पर भी यह दारुण पुत्रशोक उपस्थित हुआ। भला अब मैं रानी को क्या मुँह दिखाऊँ। निस्सन्देह मुझ से अधिक अभागा और कौन होगा ? न जाने हमारे किस जन्म के पाप उदय हुए हैं। जो कुछ आज तक हमने किया वह यदि पुण्य होता तो हमें यह दुःख न देखना पड़ता। हमारा धर्म का अभिमान सब झूठा था, क्योंकि कलियुग नहीं है कि अच्छा करते बुरा फल मिलेगा। निस्सन्देह मैं महा अभागा और बड़ा पापी हूँ। (रंगभूमि की पृथ्वी हिलती है और नेपथ्य में शब्द होता है) क्या प्रलयकाल आ गया ? नहीं यह बड़ा भारी असगुन हुआ है। इसका फल कुछ अच्छा नहीं। वा अब बुरा होना ही क्या बाकी रह गया है जो होगा ? हा ! न जाने किस

अपराध से दैव इतना रूठा है! (रोता है) वत्स रोहिताश्व! हा! तुम हम लोगों को इस दशा में छोड़ कर कहाँ गए? आज हम सचमुच चाण्डाल हुए। लोग कहेंगे कि इसने न जाने कौन दुष्कर्म किया था कि पुत्रशोक देखा। हाय! हम संसार को क्या मुँह दिखावेंगे। (रोता है) वा संसार में इस बात के प्रगट होने से पहले ही हम भी प्राण त्याग करें। हा निर्लज्ज प्राण! तुम अब भी क्यों नहीं निकलते? हा वज्रहृदय! इतने पर भी तू क्यों नहीं फटता? अरे नेत्रो! अब और क्या देखना बाकी है कि तुम अब तक खुले हो! या इस व्यर्थ प्रलाप का फल ही क्या है! समय बीता जाता है, इसके पूर्व कि किसी से सामना हो प्राण त्याग करना ही उत्तम बात है। (पेड़ के पास जाकर फाँसी देने योग्य डाल खोजकर उसमें दुपट्टा बाँधता है) धर्म! मैंने अपने जाने सब अच्छा ही किया परन्तु न जाने किस कारण मेरा सब आचरण तुम्हारे विरुद्ध पड़ा, सो मुझे क्षमा करना। (दुपट्टे की फाँसी गले में लगाना चाहता है कि एक साथ चौंक कर) गोविन्द गोविन्द! यह मैंने क्या अनर्थ अधर्म विचारा! भला मुझ

दास को अपने शरीर पर क्या अधिकार था कि मैंने प्राण-त्याग करना चाहा। भगवान् सूर्य इसी क्षण के हेतु अनुशासन करते थे। नारायण! नारायण! इस इच्छाकृत मानसिक पाप से कैसे उद्धार होगा? हे सर्वान्तर्यामी जगदीश्वर! क्षमा करना। दुःख से मनुष्य की बुद्धि ठिकाने नहीं रहती। अब तो मैं चांडाल कुल का दास हूँ, न अब शैव्या मेरी स्त्री है और न रोहिताश्व मेरा पुत्र। चलूँ अपने स्वामी के काम पर सावधान हो जाऊँ, वा देखूँ अब दुःखिनी शैव्या क्या करती है? (शैव्या के पास जाकर खड़ा होता है)

शैव्या—(पहले की तरह बहुत रोकर) हाय! अब मैं क्या करूँ! अब मैं किसका मुँह देखकर संसार में जीऊँगी? हा, मैं आज से निपूती भई! पुत्रवती स्त्री अपने बालकों पर अब मेरी छाया न पड़ने देंगी! हा! नित्य सवेरे उठकर अब मैं किसकी चिन्ता करूँगी? खाने के समय मेरी गोद में बैठकर और मुझसे माँग माँग कर अब कौन खायगा? मैं परोसी थाली सूनी देख कर कैसे प्राण रखूँगी? (रोती है) हाय! ... से कौन लिपट जायगा

और माँ माँ कहकर तनिक तनिक बातों पर कौन हठ करेगा ? हाय ! मैं अब किसको अपने आँचल से मुँह की धूल पोंछ कर गले लगाऊँगी और किस के अभिमान से विपत में भी फूली-फूली फिरूँगी ? (रोती है) या जब रोहिताश्व ही नहीं तो मैं रहकर क्या करूँगी ? (छाती पीटकर) हाय ! प्राण तुम अब भी क्यों नहीं निकलते ? हाय ! मैं ऐसी स्वार्थी हूँ कि आत्महत्या के नरक के भय से अब भी अपने को नहीं मार डालती । नहीं नहीं अब मैं न जीऊँगी । या तो इस पेड़ पर फाँसी लगाकर मर जाऊँगी या गंगा में कूद पड़ूँगी ।

(उन्मत्त की भाँति दौड़ना चाहती है)

हरि०—(आड़ में से)

तनहिं बेचि दासी कहवाई । मरत स्वामि आयसु बिनु पाई ।
करु न अधर्म सोचु जिय माँही । 'पराधीन सपने सुख नाहीं' ॥

शैव्या—(चौकन्नी होकर) आह ! यह किसने इस कठिन समय में उपदेश किया । सच है, मैं अब इस देह की कौन हूँ जो मर सकूँ ? हाय ! दैव यह भी तुझ से न देखा गया कि मैं मर कर भी सुख पाऊँ ! (कुछ धीरज करके) तो चलूँ छाती पर वज्र धरके

अब लोकरीत करूँ। (रोती और लकड़ी चुनकर चिता बनाती हुई) हाय! जिन हाथों से ठोक-ठोक कर रोज सुलाती थी, उन्हीं हाथों से आज चिता पर कैसे रखूँगी। जिसके मुँह में छाला पड़ने के भय से कभी मैंने गरम दूध भी नहीं पिलाया उसे..........
......................(बहुत रोती है)

हरि०—धन्य देवी, आखिर तो चन्द्र-सूर्यकुल की स्त्री हो, तुम न धीरज धरोगी तो कौन धरेगा ?

(शैब्या चिता बनाकर पुत्र के पास आकर उठाना चाहती है और रोती है)

हरि०—तो अब चलें उससे आधा कफन माँगे (आगे बढ़कर और बलपूर्वक आँसुओं को रोककर शैब्या से) महाभागे! श्मशान-पति की आज्ञा है कि आधा कफन दिए बिना कोई मुरदा फूँकने न पावे, सो तुम भी पहले हमें कपड़ा दे लो, तब क्रिया करो।

(कफ़न माँगने को हाथ फैलाता है, आकाश से पुष्पवृष्टि होती है)

(नेपथ्य में)

अहो धैर्यमहोसत्यमहोदानमहोबलम्।
त्वया राजन् हरिश्चन्द्र सर्वं लोकोत्तरं कृतम्॥

(दोनों आश्चर्य से ऊपर देखते हैं)

शैव्या—हाय, इस कुसमय में आर्यपुत्र की यह कौन स्तुति करता है? वा इस स्तुति ही से क्या है, शास्त्र सब असत्य हैं, नहीं तो आर्यपुत्र से धर्मी की यह गति हो? यह केवल देवताओं और ब्राह्मणों का पाखण्ड है।

हरि०—(दोनों कानों पर हाथ रखकर) नारायण! नारायण!! महाभागे, ऐसा मत कहो। शास्त्र, ब्राह्मण और देवता त्रिकाल में सत्य हैं। ऐसा कहोगी तो प्रायश्चित होगा। अपना धर्म विचारो। लाओ मृतकम्बल हमें दो और अपना काम आरम्भ करो। (हाथ फैला कर)

शैव्या—(महाराज हरिश्चन्द्र के हाथ में चक्रवर्त्ती का चिह्न देख कर और कुछ स्वर, कुछ आकृति से अपने पति को पहिचान कर) हा आर्यपुत्र, इतने दिन तक कहाँ छिपे थे? देखो अपने गोद के खेलाए दुलारे पुत्र की दशा! तुम्हारा प्यारा रोहिताश्व देखो अब अनाथ की भाँति श्मशान पर पड़ा है। (रोती है)

हरि०—प्रिये! धीरज धरो, यह रोने का समय नहीं है। देखो सवेरा हुआ चाहता है। ऐसा न हो कि कोई आ जाय और हम लोगों को जान ले, और एक लज्जा-मात्र बच गई है वह भी जाए। चलो, कलेजे पर सिल रख कर रोहिताश्व की क्रिया करो और आधा कम्बल हमको दो।

शैव्या—(रोती हुई) **नाथ ! मेरे पास तो एक भी कपड़ा नहीं था, अपना आँचल फाड़ कर इसे लपेट लाई हूँ, उसमें भी आधा दे दूँगी तो वह खुला रह जायगा। हाय चक्रवर्ती के पुत्र को आज कफ़न नहीं मिलता।** (बहुत रोती है)

हरि०—(बलपूर्वक आँसुओं को रोककर और बहुत धीरज धरकर) **प्यारी ! रोओ मत। ऐसे ही समय में तो धीरज और धरम रखना काम है। मैं जिसका दास हूँ उसकी आज्ञा है कि बिना आधा कफ़न लिए क्रिया मत करने दो। इसमें मैं यदि अपनी स्त्री और अपना पुत्र समझ कर तुमसे इसका आधा कफ़न न लूँ तो बड़ा अधर्म हो। जिस हरिश्चन्द्र ने उदय से अस्त तक की पृथ्वी के लिए धर्म न छोड़ा उसका धर्म आध गज कपड़े के वास्ते मत छुड़ाओ और कफन से जल्दी आधा कपड़ा फाड़ दो। देखो, सवेरा हुआ चाहता है, ऐसा न हो कि कुलगुरु भगवान् सूर्य अपने वंश की यह दुर्दशा देखकर चित्त में उदास हो।** (हाथ फैलाता है)

शैव्या—(रोती हुई) **नाथ ! जो आज्ञा।** (रोहिताश्व का मृत-कम्बल फाड़ा चाहती कि रंगभूमि की पृथ्वी हिलती है, नेपथ्य में धन्य और जय की ध्वनि होती है, फूल बरसते हैं और भगवान प्रगट हो कर हरिश्चन्द्र का हाथ पकड़ लेते हैं)

भग०—बस महाराज बस, धर्म और सत्य सबकी परमावधि हो गई। देखो तुम्हारे पुण्यभय से पृथ्वी बारम्बार काँपती है, अब त्रैलोक्य की रक्षा करो। (नेत्र से आँसू बहते हैं)

हरि०—(साष्टांग दंडवत् करके रोता हुआ गदगद स्वर से) भगवन् ! मेरे वास्ते आपने इतना परिश्रम किया ! कहाँ यह श्मशान भूमि, कहाँ यह मर्त्यलोक, कहाँ मेरा मनुष्य शरीर और कहाँ पूर्ण परब्रह्म सच्चिदानन्द साक्षात् आप। (प्रेम के आँसुओं से और गदगद कण्ठ होने से) कुछ कहा नहीं जाता)

भग०—(शैव्या से) पुत्री, अब सोच मत कर। धन्य तेरा सौभाग्य कि तुझे राजर्षि हरिश्चन्द्र ऐसा पति मिला है। (रोहिताश्व की ओर देखकर) वत्स रोहिताश्व ! उठो देखो तुम्हारे माता-पिता देर से तुम्हारे मिलने को व्याकुल हो रहे हैं। (रोहिताश्व उठ खड़ा होता है और आश्चर्य से भगवान को प्रणाम करके माता-पिता का मुँह देखने लगता है, आकाश से फिर पुष्प-वृष्टि होती है)। हरिश्चन्द्र और शैव्या आश्चर्य, आनन्द, करुणा और प्रेम से कुछ कह नहीं सकते, आँखों से आँसू बहते है और एकटक भगवान् के मुखारविंद की ओर देखते हैं)

(श्री महादेव, पार्वती और विश्वामित्र आते हैं)

सब—धन्य, महाराज हरिश्चद्र धन्य ! जो आपने किया सो किसी ने न किया न करेगा।

(राजा हरिश्चन्द्र, शैव्या और रोहिताश्व सब को प्रणाम करते हैं)

विश्वा०—महाराज ! यह केवल चन्द्र सूर्य तक आपकी कीर्ति स्थिर रखने के हेतु मैंने छल किया था, क्षमा कीजिए और अपना राज्य लीजिए।

(हरिश्चन्द्र भगवान का मुँह देखते हैं)

श्री महादेव—पुत्र हरिश्चन्द्र ! भगवान् नारायण के अनुग्रह से ब्रह्मलोक पर्यन्त तुमने पाया तथापि मैं आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारी कीर्ति जब तक पृथ्वी है, तब तक स्थिर रहे और रोहिताश्व दीर्घायु, प्रतापी और चक्रवर्ती होवे।

पार्वती—पुत्री शैव्या ! तुम्हारे पति के साथ तुम्हारी कीर्ति स्वर्ग की स्त्रियाँ गावें। तुम्हारी पुत्रवधू सौभाग्यवती हो और लक्ष्मी तुम्हारे घर का कभी त्याग न करे।

(हरिश्चन्द्र और शैव्या प्रणाम करते हैं)

[पटाक्षेप]

सीता

(द्विजेन्द्रलाल राय)

नाटक के पात्र

रामचन्द्र,	अयोध्या के राजा
सीता,	रामचन्द्र की पत्नी
लक्ष्मण, शत्रुघ्न,	रामचन्द्र के भाई
लव, कुश,	रामचन्द्र के पुत्र
वाल्मीकि, वसिष्ठ,	महर्षि
अष्टावक्र,	ऋषि
वासन्ती,	वाल्मीकि की पाली हुई कन्या

सीता

पहला दृश्य

स्थान—दण्डकारण्य

स्थान—सन्ध्याकाल

[सीता, वासन्ती, कुश और लव]

सीता—कुश ! मैं अपना परिचय दूँगी, परन्तु आज नहीं। अभी तुम इतना जान लो कि तुम राजा के पुत्र हो और मैं अभागिनी, पति द्वारा निर्वासिता राजा की पत्नी और राजा की बेटी हूँ।

कुश—तुम राजा की पत्नी हो और हम राजा के पुत्र हैं, तो हम लोग इस वन में क्यों ?

लव—बड़ा कुतूहल हो रहा है।

सीता—बेटा, बस इतना ही जान लो कि मैं अभागिनी हूँ।

कुश—माँ, तुम रानी होकर भी इस तरह वनवासिनी हो !

लव—और कुछ नहीं, बड़ा कुतूहल हो रहा है।

वासन्ती—अधिक परिचय देने का समय अभी नहीं आया। कुश जाओ, और पुत्र लव, तुम भी जाओ। जल्दी ही सब कुछ जान जाओगे।

(कुश और लव का प्रस्थान)

सीता—सखी, और नहीं सहा जाता। वासन्ती, अपना परिचय देते समय मेरा सिर नीचा हो जाता है।

वासन्ती—जीजी, स्थिर होओ। आज भी धर्म है। आज भी वसुंधरा पापों से भर नहीं गई है। तुमने सुना नहीं, आज पन्द्रह वर्ष से रघुवर दूसरी पत्नी के बिना ही हैं। मैं सुख को नहीं जानती। पर जो पति-स्नेह वियोग, निराशा और सैकड़ों दुःखों को तुच्छ समझ कर अचल, अटल, स्थिर पर्वत की तरह सदा निस्सीम निस्संदेह रहता है वह तुम्हें प्राप्त है। तुम बड़ी भाग्यवती हो, जीजी।

सीता—ठीक है। मैं बुद्धिहीन हूँ, इसीसे अपने इस सौभाग्य का मुझे ख़याल न था; किन्तु कुश और लव के बारे में विचार कर देखो, सखी वासन्ती! कहाँ इन्हें राजसी पोशाक पहन कर अतुल विभव-संपति-युक्त राजमहल में रहना था, और कहाँ ये वल्कल पहनकर, यहाँ निर्जन वन में कुटी में रहते हैं! इनके भाग्य का ख़याल, इनके ऐसे

नित्य के प्रश्न मेरे प्राणों को असीम वेदना पहुँचाते हैं। आज यदि मैं बालकों की माता न होती, यदि मेरे गर्भ से कुश-लव का जन्म न होता, तो मुझे कुछ दुःख न था। पति के सुहाग के गौरव से गर्विता मैं अपने को बड़ी भाग्यवती समझती, और आज हँसती हँसती बड़े सुख से मर सकती।

(वाल्मीकि का प्रवेश)

सीता और वासन्ती—भगवन्, चरणों में प्रणाम करती हैं।

वाल्मीकि—सीता और कल्याणी वासन्ती, आयुष्मती हो।

वासन्ती—महामति, इस वेष में! पीठ पर मृगछाला, हाथ में कमंडलु, बगल में लाठी! आपको आश्रम के भीतर मैंने कभी इस वेश में नहीं देखा।

वाल्मीकि—आज एक बात कहने आया हूँ।

वासन्ती—ऋषिवर, सुनूँ क्या बात है।

वाल्मीकि—जानती हो, वह कौन बात है? कोई बड़ी बात नहीं है—किन्तु कहते हुए डर लगता है और तुमको आश्चर्य होगा।

वासन्ती—क्यों?

वाल्मीकि—सुनो। मैं दो दिन के लिए परदेश जाना चाहता हूँ।

सीता और वासन्ती—परदेश! कहाँ?

वाल्मीकि—कहाँ !—उत्तर सुनकर ज़रूर तुम खाने को दौड़ोगी। बहुत दूर नहीं—यहीं अयोध्या में—

सीता और वासन्ती—अयोध्या में ?

वाल्मीकि—मैंने कहा नहीं था कि खाने को दौड़ोगी ? यह न कहना ही अच्छा था।

सीता—अयोध्या में क्यों जाइएगा ?

वाल्मीकि—फिर वही 'क्यों ?' आः याद नहीं आता। बुढ़ापे में इसी तरह के बहुत से दोष पैदा हो जाते हैं। अयोध्या में—हाँ हाँ निमन्त्रण है।

सीता—काहे का निमन्त्रण है ?

वाल्मीकि—भोजन का निमन्त्रण है। यह ब्राह्मण जिनका बड़ा भारी भक्त है, वही अयोध्यापति रामचन्द्र अश्व-मेध यज्ञ कर रहे हैं।

वासन्ती—(सोचकर) हाय अभागिनी सीता !

वाल्मीकि—क्यों, सीता अभागिनी क्यों है ?

वासन्ती— महर्षि, इस यज्ञ में राम की सहधर्मिणी कौन होगी ? मैंने सुना है कि सहधर्मिणी के साथ ही यज्ञ का अनुष्ठान किया जाता है।

वाल्मीकि—(स्वगत) मैं बड़ा मूर्ख हूँ। यह बात तो मैंने पहले सोची ही नहीं। मैंने इनसे यज्ञ की बात क्यों

कही ! (प्रकट) बेटी, मुझे मालूम नहीं था कि तुम यज्ञ की रीति को जानती हो। सुना है कि रामचन्द्र अश्वमेध यज्ञ करने के लिए उद्यत हैं। यह नहीं जानता कि उनकी सहधर्मिणी कौन है। उसी बात को जानने और राम से कुश-लव के जन्म का हाल कहने के लिए मैं अयोध्या को जाता हूँ। मैं वही करूँगा, जिससे उन को राज्य का अधिकार प्राप्त हो ! राम ने दूसरा ब्याह किया है, यह सुनकर चुप कैसे रहूँगा ? बेटी, धैर्य धरो। अभी यज्ञ आरम्भ नहीं हुआ।

सीता—जाइए महाभाग, मेरे पुत्रों के भले के लिए जो उचित समझिए कीजिए। किन्तु रघुवर से मेरा हाल न कहिएगा। महर्षि, मैं आपसे यही भिक्षा माँगती हूँ। वचन दीजिए।

वाल्मीकि—मैं वचन देता हूँ। किन्तु यह असंभव है कि राम सीता को भूल गए हों। मैं राम को खूब पहचानता हूँ। मैंने रामायण वृथा नहीं लिखी। यदि वहाँ जाकर देखूँगा कि राम सीता को भूल गये हैं, तो मैं अपनी रामायण के सैकड़ों टुकड़े करके जल में विसर्जन कर दूँगा। यह मैं सच कहता हूँ। सीता

और वासन्ती, तुम यहाँ कुशल-पूर्वक रहो, मैं जल्दी ही लौट आऊँगा।

वासन्ती—ऋषिवर, तो कुश और लव को ले जाइयेगा ?

सीता—क्या मेरे जीवन के अन्तिम अवलंबन, वे भी जायँगे ? नहीं। अच्छा, जाइए, उन्हें भी ले जाइए। यह हृदय बहुत कुछ सह चुका है, यह भी सह लेगा। मेरा हृदय चूर चूर हो जायगा, भले ही हो जाय, वे तो सुख पाएँगे।

वाल्मीकि—नहीं, वे अभी यहीं रहें। आशा है, लौट कर मैं पुत्रों और माता को ले जाऊँगा। अच्छा, तो चलूँ।

सीता और वासन्ती—पिता जी, हम चरणों में प्रणाम करती हैं।

(वाल्मीकि दोनों को आशीर्वाद देकर जाते हैं)

सीता—(आँसुओं-भरे गद्गद् स्वर में) वासन्ती! वासन्ती!

वासन्ती—बहन—अभागिनी सीता!

(सीता को छाती से लगा लेती है)

दूसरा दृश्य

स्थान—वन का भीतरी भाग

समय—प्रातःकाल

(कुश और लव)

लव—दादा, मैंने एक सफेद घोड़ा पकड़ा है।

कुश—कहाँ है ?

लव—वह, ताड़ के पेड़ के तले। देखते नहीं हो ? वह देखो, उस बेंत की लता से बँधा हुआ है।

कुश—किसका घोड़ा है ?

लव—मैं क्या जानूँ, किसका है !

कुश—आओ, उसके पास चलकर देखें। (पास पहुँच कर) यह तो जंगली घोड़ा नहीं है। किसी सिपाही का होगा।

लव—शायद हो !

कुश—ज़रूर यही बात है। अभी अभी मानो मैंने किसी सेनापति का कोलाहल सुना है, जो समुद्र की लहरों जैसा विपुल, गंभीर और अस्पष्ट है ! दोपहर को आकाश में छाई हुई बहुत-सी धूल भी देख चुका हूँ।

इस रास्ते कभी कोई सेना नहीं आई। आज क्यों आ रही है?

लव—मैं क्या जानूँ?

कुश—झगड़ा मोल लेने की ज़रूरत नहीं। निरापद रहना अच्छा है। शायद, किसी राजा की सेना दिग्विजय के लिए इस रास्ते जा रही हो। लव, घोड़ा छोड़ दो।

लव—क्यों छोड़ दूँ?

कुश—अरे, यह दूसरे का घोड़ा जो है।

लव—तो उसने इसे इस तरह आश्रम की सीमा में क्यों छोड़ दिया है?

कुश—बात नहीं मानोगे? पीछे इस घोड़े के कारण कोई बखेड़ा उठ खड़ा होगा। यह तो मैं पहले से जानता हूँ, तुम मेरी बात नहीं मानोगे। माँ को बुलाता हूँ। (प्रस्थान)

लव—(घोड़े के पास जाकर) यह घोड़ा बहुत ही सुन्दर है। इसकी आँखें उज्ज्वल और बड़ी बड़ी हैं। मुख छोटा है। कान ऊँचे हैं। रोएँ कोमल और चिकने हैं। मस्तक ऊँचा है। गरदन ऊपर उठी हुई है। कंधे मांस से भरे हुए हैं। वक्षस्थल विशाल है। टाँगें लंबी और मजबूत हैं। सुम चौड़े हैं। पूँछ ऊपर उठी हुई

है। पीछे का हिस्सा चौड़ा और भारी है। गरदन पर लंबे और घने अयाल हैं। यह पशु सौम्य, शान्त और शिष्ट होने पर भी अस्थिर, व्यग्र, तेजस्वी, बलिष्ठ और सुन्दर है। मालूम होता है, वह उसका स्वामी आ रहा है।

(एक सैनिक का प्रवेश)

सैनिक—तुमने घोड़ा पकड़ा है ?

लव—हाँ, मैंने पकड़ा है।

सैनिक—यह राजा का घोड़ा है; इसे छोड़ दो।

लव—किसका घोड़ा है ?

सैनिक—अयोध्यापति का।

लव—(आश्चर्य के साथ) रामचन्द्र का ?

सैनिक—हाँ।

लव—अच्छी बात है !

सैनिक—अच्छी बात है ! तो इसे छोड़ दो ?

लव—क्यों छोड़ दूँ ? राम का घोड़ा इस आश्रम-वन में क्यों आया ?

सैनिक—क्यों आया ? तुमने सुना नहीं कि महाराज रामचन्द्र अयोध्या में अश्वमेध यज्ञ कर रहे हैं ?

लव—नहीं, अश्वमेध की बात तो मैंने सुनी ही नहीं। और उस

को सुन लेने से भी हमारा क्या बनता-बिगड़ता है ?

सैनिक—जो घोड़ा पकड़ेगा, वह विद्रोही समझा जायगा।

लव—सच ? तो मैं विद्रोही हूँ।

सैनिक—तुम ? पागल ! तुम विद्रोही हो ?

लव—हाँ !

सैनिक—(हँस कर) तुम महाराज रामचन्द्र से युद्ध करोगे ?

लव—हाँ, युद्ध करूँगा।

सैनिक—तुम्हारी सेना कहाँ है ?

लव—सेना की क्या जरूरत है ?

सैनिक—अकेले तुम महाराज रामचन्द्र की असंख्य सेना से युद्ध करोगे ?

लव—हाँ अकेले युद्ध करूँगा ! इसमें तुम्हें आश्चर्य की बात कौन-सी देख पड़ी ?

सैनिक—अरे बच्चे, युद्ध किसे कहते हैं, जानते हो ?

लव—देखो, जानता हूँ कि नहीं !

सैनिक—(विस्मय के साथ) अरे ! तुम तपस्वी के बालक हो ?

लव—नहीं, मैं क्षत्रिय हूँ।

सैनिक—क्षत्रिय हो ? तो भी अभी बच्चे हो।

लव—नहीं, मैं बच्चा नहीं हूँ !

सैनिक—(हँसकर) बच्चे नहीं हो तो क्या हो ? क्या जवान

हो! सचमुच ? तो क्या, युद्ध के बिना राजा का घोड़ा नहीं दोगे ?

लव—कदापि नहीं।

सैनिक—तो युद्ध करो।

लव—किसके साथ ?

सैनिक—आओ, पहले मेरे ही साथ युद्ध कर लो।

लव—तुम्हारे साथ ? तुम रामचन्द्र हो ?

सैनिक—नहीं, वे मेरे स्वामी हैं।

लव—राजकुमार भी नहीं हो ?

सैनिक—नहीं, राजकुमार भी नहीं हूँ।

लव—मैं राजकुमार हूँ। मैं राजा या राजकुमार के सिवा और किसी से युद्ध नहीं करूँगा। जाओ, अपने स्वामी राजा रामचन्द्र को बुला लाओ।

सैनिक—उद्धत बालक, रामचन्द्र से युद्ध करोगे ? मूर्ख ! तुम दुधमुँहे बच्चे रावण-विजयी महाराज रामचन्द्र से युद्ध करोगे ? तुम्हारी स्पर्द्धा तो कम नहीं है !

लव—रामचन्द्र सचमुच रावण-विजयी वीर हैं ! स्त्री की हत्या में बेशक उनकी अद्भुत वीरता की बात सुनी है ! किष्किन्धा के युद्ध में ओट में खड़े हो कर बाली का वध भी बड़े आश्चर्य की बात है। राम बेशक वीर

हैं—तुच्छ, क्षुद्र वानरों और रीछों को बटोर कर उनकी सहायता से रावण को मारने वाले राम सच-मुच वीर हैं! खैर, जो भी हो, रामचन्द्र राजपुत्र हैं और उन्हें युद्ध-विद्या जानने का अहंकार भी है। तुम जाओ, रामचन्द्र को बुला लाओ।

सैनिक—रामचन्द्र जी अयोध्या में हैं। यहाँ उनके सेनापति उपस्थित हैं।

लव—उनका क्या नाम है?

सैनिक—शत्रुघ्न।

लव—(हर्ष के साथ) शत्रुघ्न नाम है? यह तो अच्छी दिल्लगी है।

सैनिक—दिल्लगी?

लव—आश्चर्य है! तुम्हारे सेनापति ने कभी युद्ध भी किया है? मैंने तो नहीं सुना। तो भी उन्हें बुला लाओ। आखिर वे राजपुत्र तो हैं ही। राम नहीं आवेंगे?

सैनिक—नहीं, उनसे तुम्हें क्या काम है?

लव—नाम सुना है। एक बार उन्हें देखने को जी चाहता है।

सैनिक—यह घोड़ा नहीं दोगे? तो फिर मैं सेनापति को बुलाऊँ?

लव—बुलाओगे नहीं तो क्या हवा के साथ कहीं युद्ध

किया जा सकता है? राजपुत्र लव सिपाही के साथ युद्ध नहीं करता।

सैनिक—यह तो आज अच्छी दिल्लगी की बात हुई।

लव—कुछ चिन्ता नहीं है। धीरे-धीरे यह बात गंभीर हो जायगी।

सैनिक—अच्छा, तो फिर वही हो। (प्रस्थान)

लव—देखूँ, अयोध्या के वीर किस तरह युद्ध करते हैं। मेरी नस-नस में गर्म खून लहरें मार रहा है। आज मैं रणरंग में मस्त हो कर क्रीड़ा करूँगा। आज पहला दिन है कि मैं समर-सागर की लहरों में तैरूँगा। देखूँ, मैंने कैसी अस्त्र-विद्या सीखी है!

(सीता का प्रवेश)

सीता—बेटा लव!

लव—क्या है माँ?

सीता—तूने घोड़ा क्यों पकड़ रक्खा है?

लव—माँ, वह आश्रम-वन के भीतर घुस आया था, इसलिए मैंने उसे पकड़ लिया।

सीता—घोड़े को लेकर तू क्या करेगा?

लव—उस पर चढ़ूँगा।

सीता—और जब कोई घोड़े को खोजता हुआ आयेगा तब?

लव—अभी एक आया था । **मैंने उससे कह दिया है कि मैं युद्ध के घोड़े को नहीं छोड़ूँगा ।**

(घबराये हुए कुश और अन्य मुनि-बालकों का प्रवेश)

कुश—माँ ! माँ बड़ी भारी सेना ने आकर चारों ओर से हमारे आश्रम को घेर लिया है । मैं समझता हूँ, लव इस घोड़े के पीछे भारी अनर्थ खड़ा कर लेगा ।

लव—कुश, तुम निश्चिन्त हो कर बैठे रहो, लड़ने के लिए मैं हूँ । डर की कोई बात नहीं ।

कुश—अगणित सेना आ रही है । तुम अकेले क्या करोगे ? सुनो, वह कोलाहल सुनाई पड़ रहा है । लव, तुरन्त घोड़े को छोड़ दो ।

लव—नहीं माँ, मैं कह चुका हूँ कि मरूँ, चाहे जियूँ, बिना युद्ध के घोड़ा नहीं दूँगा । क्षत्रिय के बालक की प्रतिज्ञा झूठी होगी ? माँ, तुम क्या यही चाहती हो ? (कुश से) जाओ, युद्ध होने दो । (सीता से) जाओ माँ, जाओ । होने दो असंख्य सना । मैं क्षत्रिय वीर हूँ । अकेला लव सौ सेनापतियों के बराबर है ।

सीता—लव, तू क्या एक घोड़े के लिए युद्ध करेगा ?

लव—हाँ युद्ध करूँगा ।

सीता—इस अक्षौहिणी के साथ ?

लव—हाँ, अक्षौहिणी के साथ।

सीता—अकेले ?

लव—हाँ, अकेले।

कुश—यह तुम्हारा पागलपन है !

सीता—(स्वगत) वही राघव जैसा तेज है। वही दृढ़ वचन है ! वही दर्प है ! वही ढंग है। गर्व से वैसे ही नथने फूल रहे हैं ! वैसी ही साहस से फूली हुई चौड़ी छाती है। आँखों में वैसी ही ज्योति है ! चेहरे पर स्वावलंबन का वैसा ही तेज है ! (प्रकट) बेटा ! तुम क्षत्रिय वीर हो, तुम राजपुत्र हो। जाओ, युद्ध करो। मैं क्षत्राणी हूँ। तुम्हारे युद्ध के उत्साह में बाधा नहीं दूँगी। माता के चरणों की धूल उसके आशीर्वाद सहित अपने मस्तक पर ले लो। अगर मैं सती हूँ, अगर मैं पतिव्रता हूँ, तो मेरे आशीर्वाद से तुम विश्व को जीत लोगे।

तीसरा दृश्य

स्थान—वन का दूसरा हिस्सा

समय—दोपहर

(समरवेश में लव और शत्रुघ्न खड़े हैं। कुछ दूरी पर सेना खड़ी है)

शत्रुघ्न—बालक—उद्धत शिशु—शस्त्र रख दो। बच्चे, मालूम होता है तुम अभी तक यह भी नहीं जानते कि युद्ध खेल नहीं है!

लव—युद्ध खेल नहीं है? सेनापति जी, मैं तो समझता हूँ युद्ध खेल ही है। कम से कम मेरे लिए तो है ही।

शत्रुघ्न—तुम जानते हो शस्त्र के आघात से शरीर में घाव हो जाता है और फिर उससे खून बहता है? तुमने कभी खून देखा है? कभी तलवार के वार से धड़ से सिर को कटते देखा है?

लव—हे वीर, सच्ची बात कहूँ तो मैंने न कभी अपना कटा हुआ सिर देखा है और न कभी अपने शरीर में घाव की व्यथा का अनुभव ही किया है।

क्षत्रुघ्न—तो फिर शांत होओ। तुम अभी बच्चे हो।

अस्त्राघात के योग्य नहीं हो, गोद में उठाने लायक हो, प्रिय संभाषण करने और स्नेह से आलिंगन करने के योग्य हो। तुम्हारे किशोर कोमल शरीर पर अस्त्राघात! तुम्हारा यह स्निग्ध मुख चूमने के योग्य है। कुमार! महाराज का घोड़ा फेर दो और निश्चिंत होकर अपनी माता के पास लौट जाओ।

लव—युद्ध के बिना मैं घोड़ा नहीं दूँगा। समझे? शत्रुघ्न, तुम क्या सो रहे? या बहरे हो? तो फिर सुन लो—(ऊँचे स्वर से) यह निश्चय समझो कि मैं बिना युद्ध के घोड़ा नहीं दूँगा। अब सुन लिया?

शत्रुघ्न—(हँसकर) तो फिर युद्ध होना अनिवार्य है। अच्छा; तलवार खींचो।

(दोनों तलवार खींचकर युद्ध करते हैं)

शत्रुघ्न केवल अपने को बचाता है)

शत्रुघ्न—धन्य हो बालक! तुम्हारी अस्त्र-शिक्षा धन्य है! लव, ठहरो।

लव—(ठहर कर) तो तुम हार मानते हो?

शत्रुघ्न—अच्छा। मैं हार मानता हूँ। युद्ध छोड़ दो वीर, और घोड़ा लौटा दो।

लव—ना, तुम हँस रहे हो। अगर शक्ति हो तो घोड़े को

ले जाओ। मुझे युद्ध में परास्त किए बिना तुम घोड़े को नहीं पा सकते। आओ, युद्ध करो।

शत्रुघ्न—अच्छा तो वही हो। तुम बालक अवश्य हो, मगर अपने शरीर में सिंहसदृश पराक्रम रखते हो। तुमने अस्त्रशिक्षा भी प्राप्त की है। तुम्हारे साथ कौशल की परीक्षा में कोई लज्जा की बात नहीं है। हथियार उठाओ।

लव—तुम वीर हो। तुम्हीं पहले वार करो।

(फिर युद्ध होता है। शत्रुघ्न पृथ्वी पर गिर पड़ता है। तब सैनिक लव पर आक्रमण करते हैं और लव उनके साथ युद्ध करता हुआ बाहर निकल जाता है)

(कुछ सैनिकों का फिर प्रवेश)

१ सैनिक—यह क्या! क्या सेनापति के सिर में चोट आई है?

शत्रुघ्न—चोट? साधारण नहीं, गहरी चोट है।........

१ सैनिक—शिविर में ले चलो। यह क्या—यह कैसा कोलाहल सुन पड़ता है?

(बहुत से सैनिकों का फिर प्रवेश)

२ सैनिक—सर्वनाश हो गया स्वामी! यह सुनकर कि आप मारे गये हैं, अयोध्या की सारी सेना आतंक से विह्वल होकर भागी जा रही है और वीरकुलश्रेष्ठ लव अकेले निर्भय कार्तिकेय की तरह उसका पीछा कर रहे हैं!

और सैनिक—धन्य है लव, धन्य है !

शत्रुघ्न—तो यह अयोध्या की भागती हुई सेना का आर्तनाद है ? धिक्कार है ! धिक्कार है ! अयोध्या के सब क्षत्रिय कायर हैं ! अकेले बालक लव ने आज राम की सारी क्षत्रिय-सेना को भेड़ों की तरह खदेड़ दिया ! हा ! धिक्कार है !

१ सैनिक—सेनापति को डेरे में ले चलो । इनको गहरी चोट लगी है !

(शत्रुघ्न को लेकर सब सैनिकों का प्रस्थान)

२ सैनिक—(जाते जाते) इस बालक की शस्त्रशिक्षा धन्य है ! बाहुबल धन्य है ! यह क्षत्रिय-तापस वीरों में अग्रगण्य है !

(प्रस्थान)

(लव का प्रवेश)

लव—सब भाग गये ! राजा की सेना को मारकर भगा दिया ! असंभव संभव हो गया ! इसको युद्ध कहते हैं ! यह तो लड़कों का खेल हुआ । अच्छा, अब घर चलूँ, दिन समाप्त हो आया है ।

(प्रस्थान)

चौथा दृश्य

स्थान—वाल्मीकि का आश्रम

समय—तीसरा पहर

(सीता, वासन्ती, लव और कुश)

सीता—बेटा लव, आज तुमने सर्वनाश कर डाला। तुमने मुझसे यह क्यों नहीं कहा कि वह सब सेना राघव की है ? और उनका भाई शत्रुघ्न उसका नायक है ?

वासन्ती—रामचन्द्र तुम्हारे पिता हैं, शत्रुघ्न तुम्हारे चाचा हैं।

लव—रामचन्द्र हमारे पिता हैं ! माता आज तक तुमने यह बात तो हमें बताई नहीं !

सीता—मैं सर्वनाशी राक्षसी सदा से अपने घर में सब अमंगल, सब अकल्याण ले आती रही हूँ ! हाय, मेरे बराबर अभागिनी कौन स्त्री होगी !

कुश—रामचंद्र—अयोध्या के राजा रामचन्द्र—हमारे पिता हैं ! और तुम उनकी निर्वासिता पत्नी हो ! तो तुम अभागिनी सीता हो।

सीता—हाँ बेटा कुश, मैं अभागिनी, सर्वनाश की जड़, पापिन उनकी निर्वासिता पत्नी हूँ। राघव ही मुझ अभागिनी के स्वामी हैं। हाय विधाता ! यह बात कहते समय मुझ पर वज्रपात क्यों न हुआ ! बेटा कुश, यह बात सुनकर क्या तू अपनी माता से घृणा करने लगा है ? मैं बराबर रघुकुल में अकल्याण, कलंक-कालिमा, विग्रह, विच्छेद और अशान्ति लाती रही हूँ । मेरे ही लिए बालि के वध का पाप हुआ, मेरे ही लिए लंका का युद्ध हुआ। मेरे ही कारण आज शत्रुघ्न आहत हुए हैं। मेरे ही कारण इक्ष्वाकु-वंश का घर इस तरह उजड़ा है। दुर्भिक्ष, हाहाकार, सर्वनाश आदि सब अनर्थों की जड़ मैं हूँ। मैं पाप हूँ, मैं अभिशाप हूँ। मैं अयोध्या के लिए धूमकेतु हूँ। क्या तू मुझसे घृणा करता है ? मैं घर से दुतकारी गई और निकाली हुई हूँ, देवतुल्य मेरे पति ने उतार कर फेंके गए पुराने फटे कपड़े की तरह मुझे त्याग दिया है । आज मैं सिर झुकाकर यह सब स्वीकार करती हूँ । बेटा, तू क्या अपनी जननी से घृणा करता है ? बोल बेटा कुश, बोल बेटा लव ! तुम अभी तक चुप हो ! ना ना मेरे बच्चो, तुम मुझसे घृणा न करना । तुम मेरे

हृदय के धन हो, मैं पापिन हूँ, फिर भी तुम्हारी जननी हूँ। मैं दीन-हीन हूँ, फिर भी अपने हृदय के रक्त से मैंने इतने दिन तक तुम्हारा लालन किया है। तुम मुझसे घृणा करते हो, यह न कहना, नहीं तो मेरी छाती फट जायगी।—कुश तू अब भी चुप है!—लव!

कुश—अभागिनी दुखिया माता! (प्रस्थान)

सीता—वासन्ती! वासन्ती! बस यही अन्त है। यही मेरे दुःख की हद है। इससे अधिक दुःख और क्या हो सकता है? पुत्र अगर दारुण घृणा करके करुणा दिखाता हुआ पास से चला गया, तो फिर इससे अधिक दारुण ज्वाला और क्या हो सकती है? वासन्ती! इस छाती को पत्थर से दवा रख; आँखों के आगे अन्धकार छा गया है। मुझे सहारा दे—(मूर्च्छा)

वासन्ती—लव!

लव—माँ! माँ!

वासन्ती—लव, जल्दी पानी ले आ। तेरी माँ मूर्च्छित हो गई है!

(लव का प्रस्थान और जल लेकर फिर प्रवेश तथा सीता के मुख पर पानी छिड़कना)

वासन्ती—जीजी, मैं तुम्हें और क्या सान्त्वना दे सकती हूँ ? क्या कहकर सान्त्वना दूँ !

लव—माँ ! माँ ! उठो; मैं लव तुम्हें पुकार रहा हूँ । मैंने तो तुमसे घृणा नहीं की; फिर क्यों मुझे उत्तर नहीं देती हो ? माँ पहले मैं तुमको अपने हृदय के भीतर रखता था; आज से तुम्हारा स्थान मेरे सिर पर होगा ! जननी, तुम मेरे लिए सदा आराधनीया देवी हो—अपने चरणों की धूलि मुझे दो ।

(पर्दा गिरता है)

———

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—अयोध्या की राजसभा

समय—प्रातःकाल

(राम, लक्ष्मण, भरत, वसिष्ठ, अष्टावक्र और अन्य ऋषिगण)

अष्टावक्र—महाराज, यज्ञ की बहुत बड़ी तैयारी हुई है। सैकड़ों निमन्त्रित राजा लोग राज-दर्शन के लिए आए हैं।

राम—मुनिवर मैं धन्य हो गया।

अष्टा०—सागर-पर्यन्त सारी पृथ्वी के लोग गंभीर स्वर से "जय अयोध्या के स्वामी रामचन्द्र की जय" एक स्वर से कह रहे हैं।

राम—घोड़ा कहाँ है ?

लक्ष्मण—महाराज, यज्ञ का घोड़ा दंडकारण्य में है।

राम—किसी ने युद्ध किया ?

अष्टा०—अयोध्या के महाराज का प्रतिपक्षी संसार में कौन है ? दाक्षिणात्य सब राजाओं ने बिना युद्ध के सिर झुकाकर राघव का एकच्छत्र अधिकार स्वीकार कर लिया है।

(द्वारपाल का प्रवेश)

द्वार०—महाराज को आशीर्वाद देने के लिए महर्षि वाल्मीकि आये हैं।

राम—कहाँ हैं ? शीघ्र सम्मान के साथ उन्हें ले आओ। कहो—मैं उनकी प्रतीक्षा में खड़ा हूँ। अथवा नहीं, मैं स्वयं जाकर उन्हें ले आऊँगा !

लक्ष्मण—नहीं नहीं, मैं उन्हें लिये आता हूँ। उन्हें विश्राम कराकर विधि-पूर्वक अतिथि-सत्कार से संतुष्ट करके तब यहाँ लाऊँगा। आप बैठिए महाराज, मैं जाता हूँ।

राम—ठीक है भाई लक्ष्मण, अतिथि-सत्कार का मुझे खयाल ही नहीं था। शीघ्र—अभी—जाओ भाई !

(लक्ष्मण का प्रस्थान)

भरत—मेरा खयाल है, वाल्मीकि को निमंत्रण ही नहीं दिया गया। या यह मेरा भ्रम है ! वे इतनी दूर अनिमंत्रित कैसे आ गए ?

राम—(स्वगत) उन्हीं के आश्रम में निर्वासित सीता ने आश्रय ग्रहण किया था। उन्हीं के आश्रम में वह सुंदर लता लगाई गई और सूख भी गई। हाय अभागिनी सीता ! वे ऋषिवर सीता की स्मृति से परिपूर्ण हैं। वे मेरे लिए चिर पूज्य हैं।

(लक्ष्मण के साथ वाल्मीकि का प्रवेश)

राम—भगवन्, राम श्रीचरणों में प्रणाम करता है।

वाल्मीकि—महाराज, तुम्हारी बड़ी आयु हो। सब ब्राह्मणों को मैं नमस्कार करता हूँ।

(सब ब्राह्मणों ने वाल्मीकि को प्रणाम किया)

वाल्मीकि—(वसिष्ठ से) आप ही महर्षि वसिष्ठ हैं न ?

बसिष्ठ—हाँ, हैं हो हूँ।

राम—आज महर्षि ने इतनी दूर पैदल आने का कष्ट उठाया !

वाल्मीकि—महाराज, तपोबल से तो दूर निकट हो नहीं सकता। इसी से पैदल आना पड़ा।

राम—महाभाग, आज आपके आने से मैं कृतार्थ हो गया।

वाल्मीकि—मैंने सुना कि राजा रामचन्द्र अश्मेध यज्ञ कर रहे हैं। राजा के दर्शन आज तक नसीब नहीं हुए थे। इस सुयोग में अयाचित भाव से बिना निमंत्रण पाये ही मैं इतनी दूर चला आया।

राम—भगवन्, निमंत्रण देने का काम तो गुरु वसिष्ठजी को सौंपा गया था। क्षमा कीजिये ऋषिवर !

वाल्मीकि—नहीं, नहीं। मैं तो निमंत्रण की वैसी परवाह नहीं करता। ब्राह्मण हूँ; भीख माँगकर खाता हूँ। निमंत्रण मिले तब तो अच्छी ही बात है, और

अगर न मिले, तो मैं बिना निमंत्रण पाये भी चला जाया करता हूँ। अच्छी बात है; अश्वमेध यज्ञ बहुत श्रेष्ठ यज्ञ है। उस पर आयोजन भी अच्छा देख पड़ता है। बहुत सुंदर है। कुलगुरु वसिष्ठ जब उपस्थित हैं, तब क्यों न ऐसा अच्छा यज्ञ हो। हाँ महाराज, इस यज्ञ में आपकी सहधर्मिणी कौन है? किस सौभाग्यवती ने वह पद प्राप्त किया है?

राम—सीता की सोने की प्रतिमा।

वाल्मीकि—कौन? क्या कहा? अब मैं बूढ़ा हुआ न, कुछ ऊँचा सुनता हूँ। कौन?

राम—सीता की सोने की प्रतिमा।

वाल्मीकि—सच?

राम—सच।

वाल्मीकि—राम, तुम धन्य हो। प्रिय महाराज, तब तुम्हारे इस कार्य से मैं भी धन्य हो गया।

राम—मैं धन्य हूँ? भगवन्, रक्षा करो—रक्षा करो! अब और निरादर न करो। ऋषिवर, आपका यह तिरस्कार वज्र के समान मेरे हृदय को सब से बढ़ कर पीड़ा पहुँचा रहा है। महर्षि, अगर पत्नी-द्रोही मैं धन्य हूँ, तो फिर संसार में पातकी कौन है?

(द्वारपाल का प्रवेश)

द्वार०—महाराज, दंडक-वन से राज-सेना का भागा हुआ दूत आया है।

राम—(चौंक कर) राजसेना का भागा हुआ दूत! उसे शीघ्र ले आओ। वह जो खबर लाया है, उसे सुनने के लिए मैं व्यग्र हूँ।

(द्वारपाल का प्रस्थान)

राम—लक्ष्मण, निश्चय ही मैं उस दूत के मुख से कोई अत्यन्त अद्भुत समाचार सुनूँगा।

(द्वारपाल के साथ दूत का प्रवेश और द्वारपाल का प्रस्थान)

राम—दूत क्या खबर लाए हो?

दूत—महाराज! (चुप रह जाता है)

राम—कहो, कहे जाओ।

दूत—महाराज!

राम—केवल यही खबर है? और क्या कहना चाहते हो? फिर भी चुप खड़े हो? तुम्हें और भी कुछ कहना है?

दूत—महाराज, अभय दीजिए।

राम—जो कहना हो, वह निर्भय होकर मेरे सामने कहो। फिर भी चुप हो? तो फिर मैं ही कहना शुरू करूँ? दंडक-वन में घोड़ा कहीं भाग गया। फिर भी चुप

खड़े हो ? बोलो, क्या मामला है ? सुनूँ तो । गूँगे की तरह चुपचाप खड़े मेरी ओर क्या ताक रहे हो ?

दूत—महाराज, घोड़े को एक बालक ने पकड़ लिया था ।

राम—उसके बाद ?

दूत—उसे छुड़ाने शत्रुघ्न—

राम—शत्रुघ्न गये ? अच्छा, उसके बाद ?

दूत—शत्रुघ्न घायल होकर बंदी हो गये ।

सब लोग—पागल है, पागल है ।

राम—मैंने कहा न था कि कोई अत्यन्त अद्‌भुत समाचार सुनने को मिलेगा ? (दूत से) तुम दिन में स्वप्न देखते हो ? या पागल हो गए हो ? भाग जाओ ।

वाल्मीकि—(दूत से) उस बालक का क्या नाम है ?

दूत—लव ।

वाल्मीकि—लव ? दंडक-वन के पास ?

दूत—जी हाँ ।

वाल्मीकि—बालक की अवस्था कोई सत्रह वर्ष होगी ?

दूत—हाँ इतनी होगी ।

वाल्मीकि—(राम से) महाराज, इस दूत की बात बिलकुल सच मालूम होती है । कम से कम आधी सच तो है ही । उस क्षुद्र बालक लव को मैं जानता हूँ ।

राम—क्या कहा महर्षि ? देखता हूँ, महर्षि भी इस बात पर विश्वास करते हैं कि एक दुधमुँहे बालक ने शत्रुघ्न को जीत लिया। अच्छी दिल्लगी है।

वाल्मीकि—यह दिल्लगी नहीं है वत्स, लव साधारण बालक नहीं है।

राम—उसका जन्म किस कुल में हुआ है ?

वाल्मीकि—वह रामचन्द्र के ही समान श्रेष्ठ और प्रसिद्ध कुलोत्पन्न है।

राम—सूर्यवंश के समान वंश में ? ऋषिवर, तो उस बालक का पिता कौन है ?

वाल्मीकि—उसके पिता अयोध्या के स्वामी महाराज रामचन्द्र हैं।

राम—भगवन्, तो क्या मैं यह समझूँ कि वह सीता का पुत्र है ?

वाल्मीकि—हाँ। यह मेरा कथन बिलकुल सच है। भगवान साक्षी हैं, मेरे आश्रम में ही जानकी के गर्भ से लव और कुश दोनों बालकों का जन्म हुआ था, महाराज !

राम—तो वे इस समय कहाँ रहते हैं ?

वाल्मीकि—वे अपनी माता सहित मेरे आश्रम में रहते हैं।

मैं इतनी दूर कुश और लव को उनका राज्याधिकार दिलाने के लिए ही आया हूँ । अगर महाराज आज्ञा दें, तो उन्हें उनकी माता समेत लाकर पिता के हाथों में सौंप दूँ ।

राम—नहीं महर्षि, इस विषय में अपने पुत्र और अपनी स्त्री पर सब का स्वत्व है—सब का अधिकार है, केवल राजा का नहीं है ।

वाल्मीकि—कौन कहता है ?

वसिष्ठ—यह शास्त्र का विधान है । राजा की स्त्री, उसका राज्य है । राजा की संतान उनकी प्रजा है । और, राजा का कर्तव्य केवल प्रजा-रंजन है । राजा का जीवन कठोर साधना है; वह फूलों की सेज नहीं है । यह सनातन शस्त्र कहता है ।

वाल्मीकि—वसिष्ठ जी, आप यह क्या कहते हैं ? मैं वृद्ध ऋषि हूँ; मैं मूर्ख हूँ । पहले हत्यारा डाकू था । तथापि अन्तर्यामी जानते हैं; ऐसी कठोर व्यवस्था, ऐसी निर्मम राजनीति मैंने कभी नहीं सुनी । दया, माया, भक्ति, स्नेह, अनुराग, प्रीति ये विश्व की संपत्ति हैं, केवल राजा को ही प्राप्य नहीं है । हाय, ऋषिवर, आप गृहस्थ हैं, आपको ये वचन नहीं सोहते । राजा

ब्याह तो करेगा, लेकिन स्त्री और पुत्रों पर उसका अधिकार नहीं होगा ? तो फिर यही विधान क्यों न कर दिया कि राजा के लिए ब्याह करना शास्त्रविरुद्ध है ! यह विधान उस विधान जितना निर्मम न होता।

वसिष्ठ—(राम से) अच्छा तो महाराज, तुम कुश और लव को ग्रहण कर सकते हो, क्योंकि तुम्हारे और कोई पुत्र नहीं है। जब महर्षि वाल्मीकि साक्षी दे रहे हैं कि कुश-लव तुम्हारे पुत्र हैं, तब तुम निश्चिंत और निर्भय होकर उन्हें ग्रहण कर सकते हो ?

वाल्मीकि—और सीता ?

राम—(अनमने भाव से) सीता, सीता आज स्वप्न-सी जान पड़ती है।

वसिष्ठ—सीता ? ऋषिवर, धर्ममत के अनुसार सीता को ग्रहण नहीं किया जा सकता।

वाल्मीकि—वसिष्ठ जी, वह किस लिए ? मैं मूर्ख ऋषि हूँ, आजीवन वन में रहता रहा हूँ। महात्मा, मुझे धर्म आदि का अधिक ज्ञान नहीं है।

वसिष्ठ—जिस कारण से सीता को निर्वासित किया गया था; वह कारण अभी तक विद्यमान है, महर्षि !

वाल्मीकि—जानता हूँ—जानता हूँ । बस रक्षा कीजिए भगवन् ! इस सभा को, मेरे इन कानों को और इस वायुमंडल को वे निन्दा के वचन कहकर कलुषित न कीजिए। हरि साक्षी हैं, वह कलंक, वह अपवाद और वह गंभीर अन्याय अपमान के समान, कठोर अत्याचार के समान, विष में बुझी छुरी के समान, उस कोमल हृदय में तीक्ष्णतम चोट पहुँचा चुके हैं। रामचन्द्र, मैं जानता हूँ, तुम पृथ्वी पर साक्षात् धर्म के अवतार हो। किन्तु नहीं मालूम, किस कठोर तर्क के फेर में पड़कर तुमने अपनी सती-साध्वी प्रिय पत्नी पर यह अत्याचार किया है।

वसिष्ठ—महामति, राम ने कर्तव्य के लिए, राजधर्म की रक्षा के लिए यह सब किया है ! प्रेम बड़ा है या कर्तव्य ?

वाल्मीकि—महाभाग, क्या स्त्री के प्रति पति का कुछ कर्तव्य नहीं है ! महाराज, अच्छा तो सुनो। यदि शास्त्र का अनादर हुआ है, तो यह आज नई बात नहीं है। तुम पति हो, सीता तुम्हारी पत्नी है। क्या शास्त्र के अनुसार उसे आश्रय देना तुम्हारा कर्तव्य नहीं है ? पत्नी भेड़-बकरी के समान पति की संपत्तिमात्र नहीं है कि तुम अपनी सुविधा, रुचि,

इच्छा या प्रवृत्ति के अनुसार जब चाहो उसे रक्खो, और जब चाहो तब उसे निकाल दो। सुनो, तुम्हारी ही तरह स्त्री के भी हृदय होता है, और वह तुम्हारी ही तरह अनुभव करता है। खैर, इस बात को भूल जाओ कि सीता तुम्हारी पत्नी है। तुम राजा हो, और सीता तुम्हारी प्रजा है। वह अपवाद और अपमान से सताई गई है। अगर विश्व-प्रताड़िता निरपराधिनी सीता तुम्हारे द्वार पर आकर अपना न्याय चाहे, तो न्याय के अनुसार उसका विचार करना राजा का कर्तव्य है। क्या राम आज वह न्याय-विचार करना भी अस्वीकार करते हैं ?

राम—अस्वीकार नहीं करता; असमर्थ हूँ।

वाल्मीकि—असमर्थ हो ? राम, तुम विचारक हो, तुम साक्षात न्याय हो, तुम राजा हो। राजसिंहासन पर बैठकर तुमने निःशंक और सहज भाव से कैसे यह बात कह दी ? यह कहते हुए तुम्हारा मुँह जरा भी मैला न हुआ। कोरा न्याय-विचार—कृपा नहीं—उसमें भी असमर्थ हो ? अगर यह सच है तो रामचन्द्र, फिर क्यों राजसिंहासन पर बैठे हो ? क्यों यह राजदंड धारण किये हो ? सिर पर यह उज्ज्वल

मुकुट क्यों है ? बाहर न्याय-विचार का यह व्यंग अभिनय क्यों कर रहे हो ? सिंहासन से उतर जाओ और किसी वन के गाँव में चले जाओ । यह मुकुट उतार डालो; राजदंड फेंक दो और अपने असमर्थ मस्तक के ऊपर से राजतिलक पोंछ डालो । अगर केवल न्याय-विचार करने में भी असमर्थ हो तो राजसिंहासन पर क्यों बैठे हो ? राम, धर्म का अगर यही पुरस्कार और परिणाम है, तो फिर तुम्हीं कहो, उसके माहात्म्य पर कौन विश्वास करेगा ? (वसिष्ठ से) ऋषिवर, आप पूछते हैं कि प्रेम बड़ा है या कर्तव्य ? मैं मूर्ख हूँ, पर मेरी समझ में प्रेम उच्च है, प्रेम श्रेष्ठतर है । प्रेम राह दिखाता है और कर्तव्य उस राह पर चलता है । प्रेम विधान देता है और कर्तव्य उसका पालन करता है । महाभाग, प्रेम भ्रम नहीं है, प्रेम पागल का स्वप्न नहीं है । प्रेम सत्य है, प्रेम पुण्य है । प्रेम कभी मिथ्या नहीं करता । जहाँ धर्म है, वहाँ प्रेम है । जहाँ पाप है, वहाँ प्रेम नहीं रह सकता । प्रेम प्रभु है और कर्तव्य उसका भृत्य । (राम से) महाराज, क्या चराचर विश्व में प्रेम का राज्य नहीं है ? विश्व का स्रष्टा और नियन्ता ईश्वर क्या प्रेममय

नहीं है ? समाज और उसके नियम प्रेम द्वारा सुगठित हैं। प्रेम-बद्ध परिणय से ही नित्य नई सृष्टि होती है। कर्तव्य निर्जीव, मूक, निराकार, कठिन प्रस्तर खंड है, प्रेम उसे कलाकार शिल्पी की तरह आकार प्रदान करता है। शुष्क कर्तव्य कंकाल सदृश है, प्रेम उसका मांसरूप आवरण है, कर्तव्यरूपी सूखे वृक्ष में प्रेमरूप फूल और पत्ते लगते हैं। धूप से तपी हुई पृथ्वी पर, शिशिर के पवित्र ओसकणों से स्निग्ध मंद पवन युक्त रात्रि के समान प्रेम आता है। चिन्तायुक्त ललाट को शांति देने के लिए प्रेम निद्रा के समान है। कर्तव्य क्या प्रेम से उच्च है ? महाराज, ऋषिवर, आँख उठा कर देखिए, यह विश्व प्रेम से ही हरा-भरा हो रहा है। क्षितिज तक फैला हुआ यह नीला आकाश प्रेम से ही उद्भासित होता है। प्रेम से ही सूर्योदय होता है, प्रेम से ही नीलाकाश में लाखों नक्षत्र चमकते हैं, प्रेम से ही चंद्रमा हँसता है। प्रेम से ही जल-धारा बहती है, प्रेम से ही संसार में नदियाँ फूटती हैं। प्रेम से विकसित कुंज में राशि राशि फूल खिलते हैं। प्रेम अंधकार में प्रकाश दिखाता है। विश्व के हाहाकार में नित्य निरंतर प्रेम की स्वर्गीय वीणा बजती है।

वसिष्ठ—वाल्मीकि तुम जीत गए। मैं अपना सिर झुकाकर पराजय स्वीकार करता हूँ। तुम्हारा आदेश शिरोधार्य है। जाओ रामचन्द्र, वाल्मीकि की आज्ञानुसार काम करो। राजन, जानकी को ग्रहण करो।

राम—आज इतने दिन बाद मेरे लिए सुप्रभात हुआ। कल सबको साथ लेकर दंडकारण्य को जाऊँगा। शीघ्र पुष्पक रथ तैयार किया जाय। जब तक मैं वहाँ से न लौटूँ, तब तक भरत मेरे प्रतिनिधि होंगे। यज्ञ अच्छी तरह संपूर्ण हो। (वसिष्ठ से) गुरु देव, अत्यंत शुभ घड़ी में आपने यज्ञ की सलाह दी थी। हे देव, मैं आपको हृदय से धन्यवाद देता हूँ। मेरे सब अपराधों को क्षमा दीजिए। आज इस शुभ दिन में आशीर्वाद दीजिए कि मैं कुशल-पूर्वक अपनी स्त्री और पुत्रों को पाऊँ। यज्ञ समाप्त कीजिए। जी खोलकर सबको सोना बाँटिए। (वाल्मीकि से) महाभाग, आप मेरे हृदय की श्रद्धा, भक्ति और कृतज्ञता ग्रहण करके मेरे सिर पर शांति के जल से अभिषेक कीजिए। सब पुराने घाव, सारी व्यथा, अशांति और दुःख दूर हो जायँ। आप और वसिष्ठ जी, दोनों मिलकर आज मुझे आशीर्वाद दीजिए।

वाल्मीकि—वत्स, तुम्हारी सब कामनाएँ पूर्ण हों ।

वसिष्ठ—राजन, तुम्हारी कामनाएँ पूर्ण हों ।

राम—लक्ष्मण, आज्ञा दो कि वसन्त के इस सुंदर समीर में हर घर के ऊपर, महलों के मस्तकों पर रंगबिरंगी पताकाएँ उड़ाई जायँ । सारे नगर में मनोहर छंदों में मंगल-गान गाये जायँ । उन्मत्त आनंद को प्रकट करने के लिए आकाश को विदीर्ण करते हुए मंगल के बाजे बजाए जायँ । घर-घर में शंखध्वनि हो । अब मैं यह शुभ-समाचार सुनाने अंतःपुर में माता के पास जाता हूँ ।

(प्रस्थान)

वाल्मीकि—सीता सीता; मेरी सौभाग्यशालिनी बेटी, तू धन्य है ! जानकी तू सत्रह वर्ष तक लगातार दिन-रात जिसके लिए रोती रही, वह तुझे भूला नहीं है । देख जा बेटी, अब वृथा रो मत । तेरे सदा उदास और पीले मुख में मैंने आजतक हँसी नहीं देखी—अब देखूँगा । विशाद से मलिन उन दोनों आँखों को आज उज्ज्वल देखूँगा । हे हरि ! आज मैं तुमको हृदय के भीतर से धन्यवाद देता हूँ । हे धर्म ! तुम मिथ्या नहीं हो । विश्व में अब भी प्रेम, दया, भक्ति,

स्नेह और चरित्र का महत्त्व है। हरि ! दयामय हरि, आज मैंने समझा कि तुम सत्य हो।

(प्रस्थान)

छठा दृश्य

स्थान—दंडकाश्रम

समय—रात का पिछला पहर

(सीता और वासन्ती)

सीता—कितनी रात है वासन्ती ?

वासन्ती—रात खतम हुई समझो ।

सीता—अभी कौए नहीं बोले ?

वासन्ती—शायद बोल चुके हों ।

सीता—अच्छा वासन्ती, तो फिर कुटिया के द्वार खोल दे, प्रभात की धीमी धीमी ठंढी हवा प्रिय बाल्य-बन्धु के समान आकर मेरे गले से लग जाय ।

वासन्ती—नहीं जीजी, तुम्हारा बदन गर्म है, सवेरे की ठंढी हवा लगने से ज्वर का वेग और भी बढ़ जायगा । ज्वर अभी उतरा नहीं है ।

सीता—ओठ सूख रहे हैं वासन्ती, पानी दे। ओह, कैसी जलन है! नस-नस में जैसे आग की लहर दौड़ रही है!

वासन्ती—जीजी, क्या सिर दर्द कम नहीं हुआ?

सीता—कहाँ कम हुआ? वासन्ती, ऋषिवर वाल्मीकि अभी लौट कर नहीं आये?

वासन्ती—जीजी, यहाँ से अयोध्या क्या दो एक दिन की राह है? महर्षि शीघ्र ही कोई मंगल-समाचार लेकर आते होंगे; धैर्य धरो जीजी!

सीता—बहन, धैर्य! धैर्य किसे कहते हैं? कौन सी राजकन्या, राजपत्नी, वीर पुत्र की माता ऐसी अभागिनी होगी! मैं त्यागी गई, निकाली गई, मानो रास्ते की कोई कुतिया हूँ। फिर भी ऐसे पिता किसके हैं? ऐसे पति किसके हैं और ऐसे पुत्र किसके हैं? बस अब सान्त्वना के वचन न कहना। सुन, उस कुंज में सैकड़ों झाड़ियों पर पक्षी बोल रहे हैं। कुटिया के द्वार खोल दे—(वासन्ती द्वार खोल देती है) वह देख, ज्योतिर्मयी उषा धीरे-धीरे सुनहले चरण रखती हुई सुदूर ऊँचे पहाड़ की चोटी पर चुपचाप आकाश से उतर आ रही है। वासन्ती, आज मेरे मन में ऐसा भाव क्यों आ रहा है कि यह प्रभात जैसे

अपनी सुनहली किरणों से मेरी अंतिम शय्या रच रहा है ! जान पड़ता है, यह निर्मेघ प्रात:काल मेरे जीवन का अंतिम प्रात:काल है। वही हो बहन— यह हरी-भरी, श्यामवर्ण, चहचहाते हुए पत्तियों के शब्द से गूँजती हुई वनभूमि मुझे आज घेरे रहे। पुण्यमयी जाह्नवी के किनारे सब दु:ख-शोक को भूल कर मैं आज सुख की मौत पाऊँ।

वासन्ती—जीजी, यह क्या अमंगल बात कर रही हो ? क्या रोगी अच्छे नहीं हो जाते ?

सीता—जानती हूँ, रोगी अच्छे हो जाते हैं। सब रोग मिट जाते हैं। अग्नि के समान तप्त ज्वर के विकार से जीव बच जाते हैं, यहाँ तक कि प्रबल राजयक्ष्मा के रोग से भी रोगी बच जाते हैं। किन्तु हाय ! जो रोग पति के करुणारहित कठिन उपेक्षा-भाव के कारण है—वह उससे भी सौगुना कठिन है। पुत्र की अश्रुहीन सूखी करुणामिश्रित घृणा से पैदा हुआ जो रोग है वह अच्छा नहीं हो सकता !

वासन्ती—(स्वगत) अब और क्या सान्त्वना दूँ ? यह व्यथा सान्त्वना से परे है ! इसे समझाना वृथा है।

सीता—वासन्ती, लव कहाँ है ?

वासन्ती—तुम्हारे सिरहाने ही पड़ा सो रहा है।

सीता—(फिरकर देखकर) अहो, मेरे लिए मेरा लाल रात-भर जाग कर अब सो गया है—प्रिय बहन, तेरे दोनों हाथ पकड़कर मैं जो कहती हूँ, सो सुन। जैसे कोई मेरे कानों में बारंबार कहता है कि आज इस रात के बीतने पर मेरे जीवन का आखिरी दिन है। अच्छी तरह समझ रही हूँ आज मेरा सब कुछ समाप्त हो जायगा। वासन्ती, अगर ऐसा ही हुआ, तो आज के दिन मेरे सब दुःख मिट जायेंगे। कुछ सोच नहीं, रो नहीं। इस स्थिर, श्यामल, प्रफुल्लित, वनभूमि की गोद में विश्व के जागरण के बीच में, मैं आज सो जाऊँगी। यह मेरी सुख की मौत होगी। बहन, आज मेरे इस पददलित, शून्य, असार जीवन की समाप्ति हो जायगी। यह, यन्त्रणा का अन्त करने वाला, दुःखहीन शान्ति से भरा आज मेरे बड़े सुख का दिन है। बहन, अगर ऐसा ही हो तो तू मेरे कुश और लव को देखना। अयोध्या में चली जाना और जाकर राघव से कहना—लव और कुश को उनके हाथ में सौंप कर कहना—"सीता बड़े सुख से मरी है। इन दोनों बालकों के तुम पिता हो। तुम

पृथ्वी के राजा हो, तुम न्यायनिष्ठ वीर हो। सीता की यह अंतिम इच्छा है। यह उसकी अंतिम भिक्षा है कि दोनों पुत्रों के साथ यथोचित व्यवहार करना। और— और नया ब्याह करके सुख से रहना"। जगदीश्वर ! आँखों के आगे यह अन्धकार कैसा छाया जा रहा है ! शरीर शिथिल हुआ जा रहा है। वासन्ती, यह क्या है ?-

वासन्ती—जीजी, जान पड़ता है, ज्वर उतर रहा है।

सीता—यही होगा। (चौंककर) वह क्या है ?

वासन्ती—कहाँ ?

सीता—वह दूर पर सुनसान जंगल में तुम्हें कोई शब्द क्या नहीं सुन पड़ता ? मुझे जान पड़ता है, मैं जैसे दूर पर घोड़ों की टापों का शब्द सुन रही हूँ।

वासन्ती—कहाँ ?

सीता—वह सुनो; क्रम-क्रम से और भी स्पष्ट सुनाई पड़ रहा है, जैसे सवारों समेत दो घोड़े आ रहे हैं।

वासन्ती—हाँ ठीक है, पर अब वह शब्द नदी तट में जैसे लीन सा हो गया है।

सीता—जा, देख आ तो।

वासन्ती—अच्छा, देखे आती हूँ। तुम स्थिर होकर पड़ी रहो। (प्रस्थान)

सीता—(उठकर कान लगाकर सुनने के बाद) हा मेरे मूढ़, विश्वासी, भ्रान्त दुर्बल, हृदय ! यह बात नहीं है—मूढ़ ! यह बात नहीं है ! (लेट जाती है) वे प्रभु हैं; राजेन्द्र हैं, वे मेरी इस कुटी में क्यों आवेंगे ? तो भी यह हृदय क्यों अस्थिर हो रहा है ? इस तरह शरीर क्यों काँप रहा है ? गला क्यों रुँधा जा रहा है ? आँसू आँखों में क्यों नहीं रोके रुकते ? वे आवेंगे ? वे महाराज हैं, वे विश्वपति हैं—वे आज अपने ऊँचे राजमहल को छोड़कर दरिद्र की कुटिया में आवेंगे ? (गर्व के साथ) क्यों नहीं आवेंगे ? हाँ, मैं अभागिन हूँ; तब भी क्या वे मेरे स्वामी नहीं हैं ? वे सम्राट् हों, इससे क्या ? क्या मैं उनकी सम्राज्ञी नहीं हूँ ? मैं आज मलिना, परित्यक्ता, धूलिधूसरिता हूँ—तो भी क्या उनकी धर्म से विवाहिता पत्नी नहीं हूँ ? नहीं, यह दुराशा है। हाय, अन्ध मुग्ध प्रेम ! वे इस अभागिनी के अब कोई नहीं हैं, वे अब किसी और के हैं, वह कौन भाग्यशालिनी है ? उसने पूर्वजन्म के किस पुण्य के फल से उन्हें पाया है ? वक्षःस्थल क्यों आँसुओं से भीगा जा रहा है ? वे सुखी हों—मैं अभागिन हूँ, समुद्र के जलबिन्दु की तरह उस अतल जल में मिल जाऊँ।

सातवाँ दृश्य

स्थान—दंडक वन का प्रांत-भाग

समय—प्रभात

(राम और लक्ष्मण)

राम—वाल्मीकि कहाँ है ?

लक्ष्मण—वे देवी जानकी को आपके आने की खबर देने गये हैं।

राम—(टहलते हुए) अभी तक लौट कर क्यों नहीं आये ? मैं खुद जाकर देखूँ।

लक्ष्मण—भाई, ठहर जाइए ! महर्षि मना कर गये हैं। देवी की देह अत्यन्त क्षीण हो गई है—इसी से—वह देखिए महर्षि आ रहे हैं।

राम—(आगे बढ़कर) महर्षि, मेरी सीता कहाँ है ?

(वाल्मीकि का प्रवेश)

वाल्मीकि—रामचन्द्र, अभी समय नहीं आया। सीता अभी सो रही है। मैं इतना बूढ़ा हुआ हूँ, परन्तु मैंने ऐसा अद्भुत परिवर्तन कभी नहीं देखा। मेरी बात सुन कर उसके शरीर में मानो नवीन स्फूर्ति आ गई। पीले

पड़े कपोलों पर मानो दो नए फूल खिल गए । मृदु हास्य ने आँसुओं के जल से मधुर सृष्टि रच डाली; मानो ओस पर स्निग्ध सूर्य की किरणें धीरे-धीरे आकर पड़ गई हों । दोनों बाहु फैला कर जानकी ने अश्रु-गद्गद् स्वर में धीरे से पूछा—वे कहाँ हैं ? वह उठ कर खड़ी हुई और तुरंत छिन्नमूला लता की भाँति मूर्छित होकर भूमि पर गिर पड़ी। वासन्ती ने झटपट उसे उठाकर छाती से लगा लिया । लव ने भरा हुआ घड़ा लाकर उसके मुख पर पानी के छींटे दिए । तब उसे होश आया । थकी हुई सीता अन्त को मेरी आज्ञा से विश्राम के लिए चली गई । वह वासन्ती के गले से लिपट कर उसकी स्नेह-मयी गोद में शान्त, स्निग्ध, गंभीर सुख से सो रही है । इस समय सीता सो रही है, उसे सोने दो । रातभर उसने आँख नहीं मीची । इस समय वह सौभाग्यवती थकी—बहुत ही थकी—है ।

राम—पुत्र कहाँ हैं ? लव और कुश कहाँ हैं ?

वाल्मीकि—वे अपनी माता के पास हैं । जाऊँ; उन्हें बुला लाऊँ । वह कुश तो स्वयं ही इधर आ रहा है । कुश, लव कहाँ है ?

(कुश का प्रवेश)

कुश— लव माता के पास है । अभी उठा है और उनकी सेवा कर रहा है ।

वाल्मीकि—कुश, ये तुम्हारे पिता महाराज रामचन्द्र हैं और ये तुम्हारे चाचा लक्ष्मण हैं। इनके चरणों में प्रणाम करो।

कुश—(आदेशानुसार प्रणाम करके, राम को देख कर स्वगत) यही राम हैं ! यही अयोध्या के अधीश्वर हैं ! जिनकी गाथा, जिनका नाम, समुद्रपर्यन्त प्रसिद्ध है, जिनकी कीर्ति अक्षय और अमर है, जिन्होंने लंका के युद्ध को जीता और महती व्यवस्था को स्थापित किया । मैं भाग्यवान पुत्र धन्य हूँ, जिसके पिता अयोध्या के स्वामी महाराज रामचन्द्र हैं !

(लव का प्रवेश)

वाल्मीकि—लव, ये तुम्हारे पिता रामचन्द्र और ये चाचा लक्ष्मण हैं, इनके चरणों में प्रणाम करो ।

लव—(लक्ष्मण के चरणों में प्रणाम करके) मैं भाग्यवान् हूँ, ऐसे तपोधन जिसके चाचा हैं । चाचा, मैं श्रीचरणों में प्रणाम करता हूँ ।

(जाना चाहता है)

वाल्मीकि—लव, पिता को प्रणाम करो ।

लव—(साभिमान लौटकर) महर्षि, जो पत्नी किशोरावस्था में छाया के समान रही, साम्राज्य के सुखों को छोड़कर वनवास में अनुवर्तिनी रही, लंका के दीर्घ प्रवास में एक घड़ी भी बिना अश्रुपात के न रही, उसी पत्नी को लोकनिन्दा के भय से अनायास निर्वासन दंड देने वाले राम को—क्षमा कीजिएगा ऋषिवर—उस राम को लव प्रणाम नहीं करेगा। सीता के अटल विश्वास के साथ रामचन्द्र ने घोर अन्याय किया है; उसके प्रेम को पैरों से कुचल दिया है। देव, बेशक वे अयोध्या के राजा हों, वे त्रिभुवन के अधिपति हों, पर वे तुच्छ हैं। वे रावण-विजयी हो सकते हैं, पर मैं उन्हें सौ बार भीरु कहूँगा। (रामचन्द्र से) पिता, रामचन्द्र, तुम पृथ्वी के अधिपति हो? तुम पुरुषोत्तम हो? तुम वीर हो? तुम धर्मपरायण हो? निष्ठुर! निर्मम! धिक्कार है तुम्हें! कापुरुष! धिक्कार है! तुम्हारे पाप की सीमा नहीं है। प्रभु, राजेन्द्र, तुम्हारे इस उच्च ललाट में चिरकार तक यह कलंक-कालिमा पुती रहेगी। पिता, याद रक्खो, तुम्हारे यशोगीतों के साथ यह अन्याय सदा विकट शब्द से गरजता रहेगा।

राम—(गद्‌गद स्वर में) लव, मेरे दोनों पुत्रों में तुम अधिक श्रेष्ठ हो ! मैं पृथिवी का अधीश्वर आज तुम्हारे आगे सिर झुका कर गर्वित लज्जा से क्षमा की भीख माँगता हूँ। आओ बेटा, मेरे हृदय से लग जाओ। लव, तुम क्या मुझे क्षमा नहीं करोगे ? (हाथ फैला देते हैं)

वाल्मीकि—मुझ बूढ़े के दोनों आँखों में आँसू भर आते हैं। लव, तब भी तुम चुप हो ? पिता पुत्र से क्षमा माँग रहा है ! तो भी तुम कठिन बने हुए हो ! वाल्मीकि से इतने दिन तुमने यही शिक्षा पायी है ?

लव—(राम से) हे अयोध्या के महाराज, क्षमा अपनी पत्नी से माँगो ! क्षमामयी साध्वी सती यदि तुम्हें क्षमा कर दें तो तुम बड़े भाग्यवान् होगे ! विधाता से दया माँगो, यदि पा सको तो बड़े भाग्यवान् होगे। और क्या कहूँ पिता ! रामचन्द्र ! तुम पिता हो, मैं पुत्र हूँ। किन्तु हाय ! यह परिचय देते समय मैं लज्जा से लाल होकर सिर झुका लेता हूँ।

(पर्दा गिरता है)

आठवाँ दृश्य

स्थान—दंडकाश्रम

समय—तीसरा पहर

(वाल्मीकि और राम)

वाल्मीकि—सीता आप ही आ रही है। मैंने कहा—"उठो सौभाग्यवती! राम कुटी में आ रहे हैं।" सीता ने कहा, "नहीं प्रभु! स्वामी इतनी दूर मेरे लिए आए हैं। अब मैं खुद उनके पास जाऊँगी, अनुमति दीजिए। भगवन्! यह न सोचना कि मैं कमज़ोर हूँ। आज देह में बल, हृदय में विश्वास और निराशा में आशा पाई है। चित्त में यही अभिलाषा है कि स्वयं जाकर नाथ की अभ्यर्थना करूँ—स्वयं जाकर उनकी पद-वंदना करूँ।" रामचन्द्र यहीं प्रतीक्षा करो, मैं सीता को ले आता हूँ। (प्रस्थान)

राम—वह सीता आ रही है। यह क्या! शरीर इतना टूटा हुआ है? कमर झुकी-सी जाती है, फीके, ओस के रंग के कपोल देख पड़ते हैं। गति अत्यन्त धीमी और डगमगाती-सी है। तथापि होठों में वह मीठी स्निग्ध

स्वाभाविक हँसी की रेखा झलक रही है। मस्तक पर गरिमा या गौरव का भाव, मुखमण्डल पर क्षमा का भाव और आँखों में जल झलक रहा है। साक्षात् करुणा और अनुकंपा की मूर्ति जान पड़ती है।

(सीता का प्रवेश)

राम—सीता !

सीता—महाराज !

राम—सीता ! इतने दिनों के बाद आज "महाराज !" यह सूखा संबोधन ! प्राणेश्वरी !—अथवा उस पुराने सम्बन्ध पर अब मेरा क्या अधिकार है। तुम्हारे और मेरे बीच में बड़ा व्यवधान पड़ गया है। तुम स्वर्ग की देवी हो; और मैं क्षुद्र हृदय नरलोक का एक मनुष्यमात्र हूँ। तुम सताई हुई हो, मैं तुम पर अत्याचार करने वाला हूँ। सीता ! सीता ! सीता ! क्षमा करो।

(सीता के सामने घुटने टेककर बैठ जाते हैं)

सीता—क्या करते हो पृथ्वीनाथ ! इस मिट्टी—इस धूल—पर यों बैठना महाराज को नहीं सोहता !

राम—जब तक तुम यह नहीं कह दोगी कि मैंने क्षमा कर दिया, तब तक मैं नहीं उठूँगा !

सीता—नाथ ! मैंने इतने दिनों तक जिनकी नित्य अराधना की है; जिनका दर्शनमात्र ही साधनों की सिद्धि है, जो मोक्ष-दाता हैं; विपत्ति और कल्याण के समय जो मेरे साथी रहे हैं; ज्ञान और अज्ञान की सब अवस्थाओं में जो मेरे ध्यान का विषय हैं; उन्हें मैं क्षमा करूँ ? मैं सदा तुम्हारी दासी हूँ और तुम मेरे स्वामी हो। तुम गुरु हो, मैं शिष्य हूँ। जो तुम कहो, उसे वेद-वाक्य समझकर सिर आँखों से मानूँगी, उसमें कोई प्रश्न नहीं करूँगी। तुम मेरे देवता हो, मैं तुम्हारी भक्त हूँ। तुम जो करो, वह यदि रूढ़ हो, तो भी उसे ईश्वर का विधान समझकर करूँगी। मैं केवल यही जानती हूँ कि कि तुम मेरे सबसे बड़े देवता हो। सत्य और असत्य, न्याय और अन्याय का विचार करने का मुझे क्या अधिकार है ? नाथ ! सत्रह बरस के बाद आज मैंने फिर तुमको पाया है, इसी से पहले की सब व्यथा और दुख को भूल गई हूँ। आज मैंने पूर्ण सुख प्राप्त किया है ! आज मेरे मन में ज़रा सा भी शोक, ताप या क्षोभ नहीं है।

राम—समझ गया प्राणेश्वरी ! आज भी तुम मेरी वही सीता हो। वही सदा प्रेममयी, कोमल-

प्रकृति, दिव्य, चिरज्योत्स्नामयी, चिरस्नेहमयी, चिरक्षमामयी हो!

(लव और कुश सहित वाल्मीकि का प्रवेश)

वाल्मीकि—महाराज, यहाँ वाल्मीकि का काम समाप्त हो गया। पति-पत्नी एक दूसरे से मिल गए। मेरी कामना पूर्ण हो गई।

(भूकंप होता है)

वाल्मीकि—यह क्या! अकस्मात् वेग से पृथ्वी हिलने लगी! पहाड़ की दृढ़ स्थिर दीवारें समुद्र की छाती की तरह हिल रही हैं! विशाल शाल्मली के पेड़ टूटकर गिर रहे है; ऊँचे-ऊँचे शिखर बालू के ढूहों की तरह सैकड़ों टुकड़े होकर नीचे गिर रहे हैं! क्षोभ को प्राप्त विराट् पृथ्वी के भीतर से गंभीर कड़कड़ाहट ऊपर उठ रही है! क्या आज ही सृष्टि का अंत हो जायगा? आज क्या विश्वव्यापी ध्वंस होगा? यह क्या! यह क्या! पृथ्वी फट गई।

(सीता के पैरों के नीचे पृथ्वी के दो टुकड़े हो जाते हैं और सीता उसी दरार के भीतर चली जाती है)

सीता—पकड़ो नाथ—

राम—कहाँ हो तुम?

सीता—नाथ ! तुम कहाँ हो ?

राम—(ऊँचे स्वर से) सीता !

सीता—(पृथ्वी के भीतर से) नाथ !

राम—तुम कहाँ हो ?

सीता—(क्षीण स्वर सुन पड़ता है) तुम कहाँ हो ?

(वह दरार मिट जाती है। पृथ्वी जैसी की तैसी हो जाती है)

राम—यह क्या ! महर्षि, अकस्मात् यह घना अन्धकार कैसा देख रहा हूँ—सीता कहाँ है ?

वाल्मीकि—पृथ्वी के भीतर ! वह राक्षसी सीता को लील कर अब स्थिर हो गई।

राम—समझ गया, तो आज मेरे दुःख की यह पूर्ण मात्रा है। समझ गया, कठिन विधाता ने भरा हुआ अमृत-पात्र मेरे होठों के निकट लाकर, पीने के समय ज़बर्दस्ती छीनकर कठिन भूमितल पर फेंक दिया। हाय, यह कोई बुरा सपना है या इन्द्रजाल है ? महर्षि, बता दीजिए, जानकी कहाँ है ?

वाल्मीकि—नहीं जानता, कहाँ है ! स्वर्ग की सुधा मर्त्य लोक के मिट्टी के बरतन में आकर पड़ गई थी, आज उड़ गई है ! शायद यह मर्त्य-भूमि उस देवी के चरण रखने के योग्य नहीं थी, इसी से वह यहाँ से

चली गई। या यह संसार रूढ़ हो गया है इसलिए देवी अभिमान से अपने स्थान को चली गई है। अथवा वह इस विश्व में नारी के महत्त्व, माधुर्य, गौरव आदि गुणों को दिखाने के लिए आई थी—उसका वह कार्य समाप्त हो गया, इसीसे वह अपने पवित्र देश को चली गई। इसी कारण वह देवी इस भूगर्भ में जाकर विश्व से अन्तर्हित हो गई।

राम—(उन्मत्त की तरह) सीता ! सीता !—

प्रतिध्वनि—सीता ! सीता !

(पर्दा गिरता है)

प्रताप-प्रतिज्ञा

(जगन्नाथ प्रसाद)

नाटक के पात्र

प्रतापसिंह,	मेवाड़ के राणा
शक्तसिंह,	प्रतापसिंह का भाई
अमरसिंह,	प्रताप का ज्येष्ठ पुत्र
सामंत,	प्रताप का मन्त्री
पुरोहित,	प्रताप का गुरु
भीलराज,	प्रताप का सहायक, भीलों का राजा
भामाशाह,	मेवाड़ का भूतपूर्व नगरसेठ
चंद्रावत,	मेवाड़ का प्रजा-प्रतिनिधि
अकबर,	मुग़ल-सम्राट्
मानसिंह,	मुग़ल-सेनापति

प्रताप-प्रतिज्ञा

पहला दृश्य

स्थान—उदयपुर, प्रताप का घर

समय—प्रातःकाल

(प्रताप, राजा का प्रतिनिधि चंद्रावत तथा कुछ सामंत बैठे हैं)

चंद्रावत—(खड़े होकर) वीरो, तुम साक्षी हो। आज मैं प्रजा के प्रतिनिधि की हैसियत से वीरवर बाप्पा रावल का यह उज्ज्वल राजमुकुट राजपुत्र प्रताप को नहीं—स्वदेश के सच्चे सैनिक को सौंपता हूँ। इसलिए नहीं कि इसे पहन कर राजा प्रजा पर अत्याचार करें, इसलिए नहीं कि इसे पहन कर प्रताप चित्तौड़ को भूल जायँ, इसलिए नहीं कि इसे पहन कर सेवक प्रभु बन जायँ। मैं इसे सैनिक प्रताप को देता हूँ—वीर प्रताप को देता हूँ—व्रती प्रताप को देता हूँ, केवल तेज पर मुग्ध होकर, त्याग को सिर झुकाकर, न्याय का भक्त बनकर, मातृभूमि पर मिटने की आपकी अमर अभिलाषा से चित्तौड़ के उद्धार की आशा रख कर। प्रजा का निर्णय 'नहीं' सुनना नहीं

जानता! देव, यह जनता की धरोहर—प्रजा की भेंट—कर्तव्य समझकर ही—स्वीकार कीजिए!

(राजपूत जयनाद करते हैं। प्रताप घुटने टेक देते हैं)

प्रताप—आपके आग्रह के आगे सिर झुकाना मेरा धर्म है। मैं खूब जानता हूँ वीरो, यह काँटों का ताज है, शूलों की सेज है, न्याय की दुधारी तलवार है, त्याग का सर्वोच्च शिखर है! यह मुकुट नहीं—कर्तव्य है! जितना उज्ज्वल है, उतना ही कटु है! यह प्रभुता का चिह्न नहीं, सेवा का निशान है; राजकुमारों का विलास नहीं, वीरों का बलिदान है। मैं इस विष के प्याले को अपने प्रभु की—प्रजा की—आज्ञा से अमृत की तरह पीने को तैयार हूँ।

(चंद्रावत सिर पर मुकुट रखते हैं, हाथ में तलवार देते हैं, राजपूत जयनाद करते हैं)

चंद्रावत—प्यारे महाराणा! आपका सिंहासन राजमहलों में नहीं—प्रजाजनों के हृदय में बिछे और आपका अभिषेक क्षुद्र जल-कणों से नहीं—स्वाधीनता-संग्राम में वीरों के हृदय-रक्त की लाल-लाल बूँदों से हो!

प्रताप—(तलवार खींच कर) भवानी! तू साक्षी है! जनता-जनार्दन ने आज मुझे अपना सेवक चुना है। मैं आज

तुझे छू कर प्रतिज्ञा करता हूँ कि जन्म-भर मातृभूमि मेवाड़ के हित में, तन, मन, धन, सर्वस्व अर्पण करने से मुँह न मोड़ूँगा। सागर मर्यादा, हिमालय गौरव, सूरज तेज और वायु वेग भले ही छोड़ दे, यह प्रताप प्राण छोड़कर भी प्रण न छोड़ेगा। भाइयो, जब तक चित्तौड़ का उद्धार न कर लूँगा, सत्य कहता हूँ, कुटी में रहूँगा, पत्तल में खाऊँगा और तृणों पर सोऊँगा। आज ही से—नहीं, इसी क्षण से—मेरे लिए ये राज-प्रासाद, ये स्वर्ण-शृंगार और ये आनंद-विहार तृण से भी तुच्छ हैं! माँ का स्वर्णसंसार आज श्मशान हो रहा है। प्यारे चित्तौड़ में एक भी दीपक नहीं। उसका सम्मान आज विदेशियों के अत्याचारों की पद-रज बना हुआ है! क्या अब भी हम सुख की नींद सो सकेंगे?

(राजपूतों की खड्गों की झंकार और उनकी 'नहीं' 'नहीं' की ध्वनि)

प्रताप—चित्तौड़ के सपूतो, मेवाड़ के वीरो, आज यदि तुम्हारे उष्ण रक्त में कुछ भी उबाल आता है, तो मेरी प्रतिज्ञा में सहायक बनो। आओ, आज से हमारे हृदय में खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-बैठते, लड़ते-भिड़ते, आठों पहर, स्वाधीनता की प्रवल आकांक्षा

प्रलयाग्नि बनकर भड़का करे। उसकी एक एक चिनगारी गुलामी के विकट वन को भस्म करती रहे। चित्तौड़ के उद्धार के पहले हमें, पृथ्वी तो क्या, स्वर्ग में भी शांति न मिले।

राजपूत—हम चित्तौड़ के लिए आपके इंगित पर हँसते हँसते मर मिटेंगे।

चन्द्रावत—मेवाड़ के सूर्य! बरसों से जो अभिलाषा इस हृदय में छिपी पड़ी थी, वह आज पूरी हुई! चित्तौड़ की दुर्दशा पर रोते-रोते आँखें अंधी हो चली थीं—हृदय फटा जाता था। कोई ऐसा नायक नज़र नहीं आता था, जिसके इंगित पर मेवाड़ी वीर हँसते-हँसते चित्तौड़ की बलि-वेदी पर अपने प्राण होम देते। राणा! तुम्हें पाकर आज हम धन्य हैं, मेवाड़ धन्य है, और धन्य है सीसौदिया-वंश।

प्रताप—वीरो! मेवाड़ के अभिमान! चित्तौड की आशा! आज तुम्हें पाकर हृदय उत्साह से भर गया। चित्तौड़ के खँडहरों का शून्य हृदय हमारी अकर्मण्यता पर हाहाकार कर रहा है। एक बार उसे फिर स्वाधीनता-संग्राम के लाल दिन दिखाने को जी चाहता है। चलो, हम संसार को दिखा दें कि पद-दलित देशों के

शेष शूर किस तरह अत्याचारियों की जड़ हिला देते हैं। आज से मेवाड़ का प्रत्येक पर्वत हमारा दुर्ग, प्रत्येक वन हमारा युद्ध-क्षेत्र और प्रत्येक गुफा हमारा राज-महल होगी। चित्तौड़ का उद्धार हमारा लक्ष्य होगा और बलिदान हमारा मार्ग। हर-हर महादेव!

(प्रस्थान)

(पट-परिवर्तन)

दूसरा दृश्य

स्थान—वन

(शिकारी के बेश में राणा प्रताप और शक्तसिंह का प्रवेश)

प्रताप—क्या कहते हो शक्त? शिकार तुम्हारे प्रहार से मरा! झूठ। बिलकुल झूठ! उसे तो मेरा बाण पहले ही बेध चुका था!

शक्त—इस भ्रम में न रहिएगा महाराज!

प्रताप—इतनी स्पर्धा! इतना साहस!

शक्त—क्यों राणा, क्या मेरी नसों में सीसौदिया-वंश का वीर रक्त नहीं है!

प्रताप—शक्तसिंह! सावधान! देखता हूँ, तुम्हारी उद्दंडता धीरे-धीरे मेरे सम्मान को ठुकरा देना चाहती है!

शक्त—वीरों का स्वाभिमान किसी के सम्मान पर निछावर कर देने की चीज़ नहीं है !

प्रताप—जानते हो शक्त, प्रताप ने अपने जीवन में इतना कड़वा घूँट कभी नहीं पिया है ! वह इस प्रकार का अपमान चुपचाप सह लेने का आदी नहीं है ?

शक्त—तो शक्तसिंह को भी सम्राटों की चरण-रज चूमने का अभ्यास नहीं है । बड़े-बड़े साम्राज्य उसकी तलवार की म्यान में पड़े रहते हैं ।

प्रताप—अरे वाचाल ! जानता है इस राजद्रोह का परिणाम क्या होगा ? मेवाड़ के मुकुट के अपमान का फल क्या मिलेगा ?

शक्त—मृत्यु से अधिक कुछ नहीं !

प्रताप—सावधान शक्त ! अब भी अवसर है ।

शक्त—अवसर ! अवसर की अपेक्षा करते हैं कायर—निर्वीर्य्य—शक्तिहीन !

प्रताप—बस ! अंतिम वार ! यह अंतिम चेतावनी है, शक्त !

शक्त—शक्त को भय दिखाने से पहले स्वयं सम्हलें महाराज !

प्रताप—हूँ ! प्रताप की क्रोधाग्नि में आहुति बनने की इतनी प्रबल लालसा है ! लक्ष्यहीन युवक ! निरर्थक प्राण गँवाने की इतनी भीषण साध है !

शक्त—लड़ते-लड़ते मर-मिटना ही वीरों का चरम लक्ष्य है—सार्थक साधना है। और फिर, प्रताप के प्रताप से शक्त की शक्ति भी तो कुछ कम नहीं है !

प्रताप—अच्छा तो आ ! भुजदंड के घमंड में मत वाले उद्दंड ! अपने अनुचित साहस का उचित दंड पाने को तैयार हो !

शक्त—(तलवार खींच कर) तलवार हाथ में रहते क्षत्रिय को दंड देना यमराज के लिए भी असंभव है ! प्रताप के प्रहार की निरंतर प्रशंसा करने वाले मेवाड़ को आज शक्तसिंह दिखला देगा कि उसकी भुजाओं में सम्राटों से अधिक बल और हृदय में हिमालय से अधिक स्वाभिमान है !

प्रताप—प्रताप बकवादी नहीं, कार्यकर्ता है ! वह अपनी प्रशंसा करना नहीं, अपराधी को दंड देना चाहता है ! शक्तसिंह ! सीसौदिया-कुल के कलंक ! अपने कर्मों का फल पाने को तैयार हो ! सावधान !

शक्त—हूँ ! सावधान ! (प्रहार)

(दोनों का घोर-युद्ध प्रारम्भ। पुरोहित का प्रवेश)

पुरोहित—(बीच में दौड़ कर) शांत ! शांत ! राणा ! शांत ! शक्त ! बस करो ! यह गृह-युद्ध ! यह पातक ! शिव !

शिव ! सारा संसार आश्चर्य करेगा। पूर्वज हँसेंगे। राणा ! तुम गंभीर हो ! शक्त ! तुम वीर हो ! प्रशांत महासागर में यह भयंकर लहर ! अनुचित है ! असंगत है ! अद्भुत है ! भाई-भाई की लड़ाई बाप्पा रावल की उदार संतान को शोभा नहीं देती ! क्षमा करो राणा ! शांत हो शक्त ! तुम छोटे हो ! बड़े भाई पर प्रहार कर अपनी वीरता को कलंकित न करो।

शक्त—वीरता के असीम सागर पर आयु की मर्यादा अस्थिर होती है देव ! और यह तलवार ! यह क्षत्रिय की तलवार है पुरोहित जी ! एक बार म्यान से निकल चुकने पर यह बिना रक्त पिये शांत नहीं होती। आज वीर का अपमान करने वाले अभिमानी राणा का रक्त पिये बिना वह शांत न होगी—न होगी ! स्वाभिमान के सम्मुख सच्चे सैनिक को संसार के समस्त नाते तुच्छ प्रतीत होते हैं ! पुरोहित जी ! मैं रणचंडी का आह्वान कर चुका हूँ ! अब आपका उपदेश व्यर्थ है ! [प्रहार] समय हो चुका है !

प्रताप—इस उद्दंड अपराधी का न्याय्य दंड मृत्यु ही हो सकता है ! राजदंड के तेज के आगे भ्रातृत्व की प्रभा फीकी पड़ जाती है ! (पुनः युद्ध)

पुरोहित—(स्वगत) वीरता और अग्नि दोनों बड़ी उपयोगी हैं— बड़ी उज्ज्वल हैं, किन्तु, हाय, उनका उपयोग अपने ही पर करने वाले नादान, क्या कहे जा सकते हैं ? दयनीय—अभागे—आत्मघाती ! हा दुर्दैव ! अभागी आँखें यह क्या देख रही हैं । संसार-भर को प्रकाश देनेवाले प्रखर सूर्य में कलंक ! पवित्र सीसौदिया-वंश में फूट ! भगवन् ! क्या यही हृदय-विदारक दृश्य दिखाने को मुझे अब तक जीवित रक्खा था ! अब नहीं रहा जाता—अब नहीं सहा जाता ! विश्व को क्या यही अभीष्ट है ? प्रभु की क्या यही इच्छा है ? अच्छा ! (प्रकट) लो ! रक्त के प्यासे क्षत्रियो ! रक्त लो ! रक्त लो ! तृप्त हो ! शांत हो !

(आत्मघात करके दोनों के बीच में गिर पड़ता है । दोनों युद्ध से विरत होते हैं । विकल होकर घुटने टेक देते हैं)

शक्त—हा पुरोहित जी !

प्रताप—पूज्य ! मुझे क्षमा कीजिए, मैं न जानता था कि बात-बात में आज पवित्र क्षत्रिय-वंश में ब्रह्महत्या का कलंक लग जायगा ।

पुरोहित—वत्स ! मेरे लिए पश्चात्ताप न करो । मैं आज संसार को दिखा देना चाहता हूँ कि भारत के ब्राह्मण केवल

दान लेना ही नहीं जानते, समय पड़ने पर देश के लिए प्राण भी होम देते हैं ! (मृत्यु)

प्रताप—शक्त ! इस निरपराध उदार ब्राह्मण की हत्या तुम्हारी उद्दंडता से हुई है। तुम्हें प्राणदंड देता, पर इस वार क्षमा करता हूँ ! जाओ, इसी क्षण मेरे राज्य की सीमा से बाहर हो जाओ ! (प्रस्थान)

(पट-परिवर्तन)

तीसरा दृश्य

स्थान—प्रताप की कुटी

(व्रती वेश में राणा प्रताप और कुमार अमरसिंह)

प्रताप—आश्चर्य है, अमर ! राजा मान, आज यकायक इधर रास्ता कैसे भूल गए ! (कुछ सोच कर) हूँ ! इसमें अवश्य कोई गूढ़ रहस्य है ! वे कहाँ से आ रहे हैं, कुछ मालूम हुआ ?

अमर—वे शोलापुर-संग्राम में विजय पाकर मेवाड़ के महाराणा के दर्शन करने इधर चले आए हैं ! भला, इसमें कौन-सा रहस्य हो सकता है, पिताजी !

प्रताप—अभी तुम भोले हो अमर ! पददलित चित्तौड़ के हत-भाग्य राणा को अपना विजय-वैभव दिखाकर

प्रभावित करना क्या रहस्य नहीं है ? मेवाड़ का आतिथ्य स्वीकार कर, पवित्र सीसौदिया-वंश से भोजन-व्यवहार कर, दासता के कलंक को धोने की चेष्टा कर, सारी राजपूत-जाति के सम्मुख अपने को उज्ज्वल प्रमाणित करने में क्या मानसिंह की कूट-नीति नहीं है ? सात सौ वर्षों से निरन्तर फहराने वाली मेवाड़ की उन्नत रक्त-ध्वजा के नीचे बैठकर स्वाभि-मानी प्रताप से प्रेमालाप करने में क्या कोई अपूर्व अभिसन्धि नहीं है ? तुम क्या जानो अमर ! मेवाड़ का बच्चा-बच्चा जिसे घृणा से 'कपट' कहकर पुकारता है, उसी को ये भारतीय स्वाधीनता के शत्रु बड़े गर्व से कहते हैं 'राजनीति' !

अमर—तो क्या उनका सत्कार न होगा ?

प्रताप—क्यों न होगा ? जिस प्रकार वे हमारे अतिथि हुए हैं, उसी प्रकार उनका सत्कार भी अवश्य होगा और वह तुम्हीं को करना होगा !

अमर—जो आज्ञा ! (जाने को उद्यत होता है)

प्रताप—ठहरो ! पहले उनके सत्कार की विधि तो सीख जाओ। (कान में कुछ देर तक कुछ कहकर प्रस्थान)

अमर—द्वारपाल !

(द्वारपाल का प्रवेश)

द्वारपाल—क्या आज्ञा है, पृथ्वीनाथ !

अमर—हमारी कुटी के सामने वाले मैदान में तंबू तनवाकर खूब राजसी ठाट-बाट और भड़कीली सजावट कर रक्खो । सोने के बरतनों में बादशाही भोजन भरवा रक्खो ! जाओ, जल्दी करो, वहीं हम राजा मानसिंह को लेकर अभी आते हैं ।

(द्वारपाल चलने लगता है)

अमर—हाँ, एक बात, और ! जब राजा मान भोजन करके चल दें तो सारा सामान उदयसागर के अतल जल में विसर्जित कर देना ! गंगाजल से धुलवा कर वहाँ की सारी भूमि पवित्र करवा देना ! समझे ! पिता जी की यही आज्ञा है । भारत को गुलामी की जंजीरों से जकड़ने वाले विदेशियों की जूठन खाने वाले देशद्रोही के स्पर्श का एक भी कण न रहने पाए ! नहीं तो पिता जी नाराज़ होंगे ।

द्वारपाल—जो आज्ञा अन्नदाता ! (प्रस्थान)

(दूत का प्रवेश)

दूत—महाराज-कुमार की जय हो ! राजा मानसिंह पधारते हैं ।

अमर—उन्हें सादर लिवा लाओ और हमारे सभासदों को भी संवाद दो।

(प्रणाम करके दूत का प्रस्थान)

अमर—(स्वगत) पिता जी ने न आने का कारण क्या बताया था? (याद करके) हाँ—आँ—आँ—ठीक!

(एक ओर से मानसिंह का अपने साथियों सहित प्रवेश और दूसरी ओर से प्रताप के सभासदों का अमर के पार्श्व में आकर खड़े होना। अमर का मानसिंह की अगवानी करना)

अमर—अंबर के महाराज! स्वागत है, आपने इस दीन-हीन मेवाड़ पर बड़ी कृपा की।

मान—पुण्यश्लोक महाराणा प्रताप के दर्शनों की तीव्र लालसा ही यहाँ तक खींच लाई है कुमार!

अमर—महाराज, गरीबों की इस कुटी में आपके योग्य स्वागत-सामग्री का सर्वथा अभाव है! चलिए, आपके लिए डेरों में प्रबन्ध किया गया है।

(सहसा जंगल का पर्दा हट कर सामने राजसी तंबू दिखाई देता है)

अमर—पधारिए महाराज!

(मानसिंह चकित होते हैं, अमर उन्हें सोने के थाल के पास ले जाते हैं)

अमर—गरीबों के घर की रूखी-सूखी ग्रहण कीजिए!

मान—(ठंढी साँस लेकर) हाय, यदि मुझे सचमुच रूखी-सूखी

ही मिलती, तो मैं धन्य हो जाता कुमार ! (बात का रुख बदल कर) खैर यह तो बताओ, महाराणा ने अभी तक दर्शन क्यों नहीं दिए ?

अमर—वे ज़रा अस्वस्थ हैं महाराज !

मान—(व्यंग्य से) आज ही अस्वस्थ हो गए हैं या पहले ही से थे ! महाराणा के इस आकस्मिक अस्वास्थ्य का रहस्य कुछ-कुछ समझा जा सकता है ! महाराणा ने क्या मुझे बिलकुल मूर्ख समझ रक्खा है कुमार !

अमर—उनके मुँह से तो मैंने यह कभी नहीं सुना ।

मान—तो क्या महाराणा मेरे साथ भोजन नहीं करेंगे ?

अमर—वे विवश हैं, महाराज !

मान—तो मैं भी विवश हूँ कुमार ! महलों के पकवानों से ऊब कर मैं राणा की रूखी-सूखी खाने आया था ! संसार के मान-सम्मान से घबड़ा कर मैं राणा का प्रेम पाने आया था ! राणा ने मुझे इतना घृणित समझा ! मेरा मुँह देखना भी पाप समझा ! क्या मैं कुत्ता हूँ कुमार, जो राणा दूर ही से मेरे लिए ये टुकड़े फेंक रहे हैं ? मैं कोई सामान्य राजपूत नहीं हूँ । भारत के बड़े-से-बड़े संग्रामों में मैंने विजय पाई है । भारतसम्राट् की रण-नौका का मैं सर्वोत्तम खिवैया हूँ । आज सारा भारत

जिसके इंगित पर नाच रहा है, उसी का मैं सर्वोच्च सेनापति हूँ—सर्वश्रेष्ठ सखा हूँ ! इन भुजाओं से मैंने बड़े-बड़े गर्वोन्नत मस्तक झुका दिए हैं ! मेरे साथ राणा का यह व्यवहार ! इतनी घृणा ! इतनी उपेक्षा ! क्या उदार मेवाड़ का परंपरागत अतिथि-सत्कार यही है ?

अमर—अप्रसन्न न हों महाराज, इस सारी स्वागत-सामग्री को आपके योग्य बनाने में हम लोगों ने बहुत श्रम किया है ! इसे विफल न कीजिए। विलम्ब हो रहा है, भोजन कीजिए !

मान—भोजन ! तुम्हें लाज नहीं आती अमरसिंह ! क्या मानसिंह ऐसे भोजन के लिए तरस रहा था ? इस भोजन में हृदय नहीं है, कुमार ! इसके कण-कण से घृणा टपक रही है ! मैं भोजन न करूँगा ! कहाँ हैं राणा प्रताप ? मैं उनसे एक वार अवश्य मिलूँगा ! बस कह चुका, बिना मिले न जाऊँगा। राणा की इतनी स्पर्धा ! मेवाड़ के छोटे-से शासक का इतना साहस ! भारत-सम्राट् के दाहिने हाथ मानसिंह का अपमान ! सावधान ! सरदारो ! सावधान ! जाकर प्रताप से कह दो, समूचे मेवाड़ को जला कर राख कर

देने की शक्ति अकेले इस मानसिंह के इंगित में है !

(प्रताप का प्रवेश)

प्रताप—(तलवार तान कर) और मानसिंह के फूफा, सम्राट् अकबर को नाकों चने चबवाने की शक्ति सीसौदिया-वंश की इस करारी करवाल में है ! मानसिंह ! क्या समझ रक्खा था कि मेवाड़ की समुन्नत रक्त-ध्वजा तुम्हारे वैभव पर मोहित होकर तुम्हारे चरणों में झुक जायगी ! क्या तुमने समझ रखा था कि पवित्र सीसौदिया-वंश अपना गौरव मुगलों की जूठन खाने वाले देशद्रोही के चरणों तले बिछा देगा ! प्रताप के साथ भोजन करने की तुम्हारी कुटिल अभिलाषा तुम्हारा कितना बड़ा भ्रम था, मानसिंह कुछ समझे ?

मान—खूब समझ रहा हूँ—सब समझ रहा हूँ प्रताप ! मैं क्या समझ रहा हूँ इसका उत्तर समय देगा और देगा मेवाड़ के उद्ध्वस्त खँडहरों का हाहाकार !

(प्रस्थानोद्यत)

प्रताप—जा, जा ! बकवादी ! देशद्रोही ! मुगलों की चरण-रज मस्तक पर लगाकर राजस्थान के तिलक मेवाड़ को भय दिखाने आया है !

(पटाक्षेप)

चौथा दृश्य

(विचारमग्न अकबर धीरे-धीरे टहल रहा है)

अकबर—(स्वगत) मानसिंह की तौहीन अंबर के राजा की तौहीन नहीं, मुग़ल सल्तनत के सिपहसालार की तौहीन है । शक्तसिंह का झुकना मामूली सिपाही का झुकना नहीं, मेवाड़ के लाल झंडे का झुकना है । पर प्रताप ! मेरी सल्तनत के हज़ारे फूल का काँटा ! वही—बस वही—अब तक आँखों में खटक रहा है, कलेजे में कसक रहा है ! सल्तनत की बड़ी से बड़ी ताकत और शानशौकत को बरबाद करके भी अगर उसे निकाल फेंका जा सके तो अकबर सारी मुसीबतें सर-आँखों पर उठाने को तैयार है ! (प्रकट)— दरबान ! ऐ दरबान ! (दरबान का प्रवेश)

दरबान—जहाँपनाह !

अकबर—जाओ ! शक्तसिंह को जल्द हाज़िर करो !

दरबान—जो हुक्म खुदावंद ! (प्रस्थान)

अकबर—(स्वगत) यह शक्तसिंह जितना बहादुर है, उससे कहीं ज़्यादा भोला है। भाई से बदला लेने के लिए भाई के दुश्मन से मदद चाहता है। बेचारा यह नहीं जानता कि कभी-कभी इंसान कुएँ से निकल कर खाई में जा पड़ता है ! अच्छा अब जान जाएगा ! बादशाहों की मुहब्बत भी किसी खास मतलब से खाली नहीं होती; यह इसे अब मालूम हो जायगा।

(शक्त का प्रवेश)

शक्त—क्या सम्राट् ने मुझे याद किया है ?

अकबर—हाँ, आओ शक्तसिंह ! सच कहता हूँ, तुम जैसे बेजोड़ बहादुर की बेइज़्ज़ती का ध्यान आते ही मेरी रग-रग में आग लग जाती है—मैं तुम्हारे लिए अपनी जान लड़ा देने को बेताब हो उठता हूँ। बैठो, मुझे तुमसे कई बहुत ज़रूरी बातें करनी हैं।

शक्त—फ़रमाइए शाहंशाह !

अकबर—देखो शक्तसिंह ! मैंने तुम्हारे निस्बत अपने दिल में कैसे ख़याल बना रक्खे हैं, यह अभी तुम पर ज़ाहिर नहीं हुआ है। जिस दिन ज़ाहिर होगा, उस दिन समझोगे !

शक्त—सम्राट् की मुझ पर कृपा-दृष्टि है, यह मैं खूब जानता हूँ।

अकबर—मगर, अभी तुम भोले हो शक्तसिंह ! अपने दुश्मन के साथ कैसा वर्ताव करना चाहिए, यह तुम मुझ से सीख सकते हो। प्रताप ने तुम्हारे साथ जो ज़ुल्म किया है, उसका बदला लेने की तुम्हारी ख्वाहिश बेशक तुम्हारी ज़िन्दादिली है मगर दुनिया के सारे काम सिर्फ भोली बहादुरी से तो नहीं हुआ करते ! उसके लिए कुछ हथकंडे भी सीखने पड़ते हैं। मैं तुम्हारे पीछे अपनी सल्तनत पर आफ़त ढा रहा हूँ। तुम जैसे चाहो, प्रताप से अपना बदला चुका लो। मैं तुम्हारा साथ दूँगा, यह सच है; मगर मेरी भी एक शर्त है ! तुम्हें मेरा हुक्म मानना पड़ेगा । याद रक्खो, शक्तसिंह, यह सब तुम्हारी—सिर्फ तुम्हारी भलाई के लिए हो रहा है।

शक्त—सच कहते हैं सम्राट् ! आपको यह सारी झंझट मेरे ही लिए तो उठानी पड़ रही है ! मैं आपका कृतज्ञ हूँ! जब आप एक सच्चे मित्र की तरह मेरा साथ दे रहे हैं, तो मैं आपकी आज्ञा क्यों न मानूँगा ?

अकबर—अच्छा तो जाओ, मानसिंह को प्रताप की फौजी-ताक़त की अन्दरूनी हालत समझाने का इंतज़ाम करो !

(शक्त पहले चौंकता है फिर विद्विग्न भाव से चला जाता है)

अकबर—बेचारा राजपूत मीठा ज़हर पी रहा है। समझता है, यह सारी मुसीबत उसी के लिए एक सच्चे दोस्त की तरह उठाई जा रही है। कौन जानता है, कि शाहंशाह अकबर को मैदाने-जंग में खींचने की ताकत प्रताप की ग़रूर से तनी हुई त्यौरियों और मेवाड़ के आज़ादी से उठे हुए लाल-झंडे में है, न कि मानसिंह और शक्तसिंह के बेइज्ज़ती से झुके हुए सर में। दुनिया-भर के अभागों, दुखियों और मुहताजों को पनाह देकर ही अकबर आज जहाँपनाह नहीं कहला सकता था, उसकी बढ़ती हुई सल्तनत का राज़ तो उसकी पोशीदा ख्वाहिशों की बुलंदी और पेचीदा चालों में है। ह: ह: ह: ! इन राजपूतों ने काले नाग को रस्सी समझ रखा है ! मगर प्रताप ! अफसोस ! अकेला प्रताप कुछ-कुछ समझता है ! दरबान ! ऐ दरबान ! (दरबान का प्रवेश)

दरबान—जहाँपनाह !

अकबर—ज़रा जल्दी जाकर राजा मान को तो बुला लाओ ! हाँ, ज़रा फुरती से।

दरबान—जो हुक्म हुजूर। (प्रस्थान)

अकबर—प्रताप और अकबर! दोनों में कितना ज़बर्दस्त फर्क है। मतलब के लिए परायों को अपना बनाना अकबर खूब सीखा है और बेमतलब अपनों को पराया बनाना प्रताप को अच्छी तरह आता है! यह राजपूत क़ौम जिसे एक दफ़ा अपना उसूल बना लेती है, बस उसी में अपनी इज्ज़त समझती है, मर-मिटने पर भी उसे नहीं छोड़ती। बला की ज़िद है!

(मानसिंह का प्रवेश)

मान—क्या जहाँपनाह ने मुझे याद फ़रमाया था?

अकबर—हाँ, राजा साहब, आइए, बैठिए! आपसे आज प्रताप के बारे में कुछ ज़रूरी बातें करनी थीं। सच कहता हूँ आप की तौहीन मुझे आज अपने तख्तो-ताज की तौहीन मालूम हो रही है। मैं प्रताप से इसका बदला लेने में कुछ भी उठा न रखूँगा। जंग को जाना होगा, समझे राजा साहब, जितनी फौज की ज़रूरत हो, मेरा हुक्म है, आप अपने साथ ले जा सकते हैं।

मान—मानसिंह जहाँपनाह के हुक्म की तामील करने को हमेशा जी-जान से तैयार है।

अकबर—मेरा हुक्म? क्या कहते हैं राजा साहब! यह

काम तो मेरा नहीं है। मैं तो सिर्फ़ आपकी तौहीन का बदला लेने के लिए यह सब आफ़त सर पर उठा रहा हूँ! आप इस बात को न भूल जायँ।

मान—हुजूर की मुझ पर ऐन-इनायत है।

अकबर—देखो, मानसिंह, मैं तुम्हारी देख-रेख में सलीम को—ख़ास अपने पिसर को—जंग में भेज रहा हूँ, इसी से तुम समझ सकते हो कि मुझे तुम पर कितना यक़ीन है।

मान—जहाँपनाह, हम लोग शाहज़ादा को शाहंशाह की जगह समझेंगे। जब तक दम-में-दम है सर-आँखों पर रक्खेंगे।

अकबर—अच्छा तो जाइए, राजा साहब, जंग के लिए जल्द कूच होना चाहिए। मैं आपकी फतह की इंतज़ार में हूँ। शक्तसिंह भी अभी आपसे मिलेगा। उससे आपको प्रताप की हालत बहुत कुछ मालूम हो सकेगी।

मान—जो हुक्म, खुदावंद! (प्रस्थान)

अकबर—जाओ, बेवकूफ बहादुरो जाओ! लड़ो, खूब लड़ो, बेइज्ज़ती पाने के लिए लड़ो, गुलामी को गले लगाने के लिए जान लड़ाओ, दो घड़ी की सुर्खरूई हासिल

करने के लिए कौम की जड़ में आग लगाओ ! और अकबर ! अकबर आराम करेगा ! लोहों से लोहों को लड़ा कर फूलों की खुशबू लेगा।

(पट-परिवर्त्तन)

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—प्रताप का दरबार

(प्रताप, चन्द्रावत और कुछ अन्य राजपूत)

प्रताप—देखा, चन्द्रावत जी, मानसिंह को अपनी गुलामी पर कितना गर्व है ! मेवाड़ के एकमात्र स्वाधीन राजपूतों को धमकी दिखाते समय क्या उन्हीं की आत्मा उन्हें लज्जित न कर रही होगी ? हृदय रखते हुए भी कोई इतना पतित कैसे हो सकता है ?

चन्द्रा०—हृदय ! खुशामदियों के हृदय नहीं होता राणा ! गुलाम के आत्मा नहीं होती ! जिन्होंने सांसारिक सुखों पर निछावर होकर स्वाधीनता को लात मार दी, उन अभागों का हृदय, आत्मा, जीवन, स्वाभिमान, सब कुछ उसी समय नष्ट हो गया। हृदय तो वीरों का भूषण है, दरिद्रता में—दुःख में—संकट में—दैन्य में

घुलघुल कर मरते हुए भी जिनका स्वाभिमानी मस्तक नीचा नहीं होता उन निर्धनों का धन है ! मानसिंह के पास हृदय कहाँ से आया ?

(द्वारपाल का प्रवेश)

द्वारपाल—महाराणा की जय हो । गुप्तचर आवश्यक संवाद लाया है ।

प्रताप—उपस्थित करो ।

(गुप्तचर का प्रवेश)

गुप्त०—महाराणा ! अकबर की फ़ौज मेवाड़ की ओर चल पड़ी है । मानसिंह, सलीम और शक्तसिंह जी भी साथ हैं । (प्रस्थान)

प्रताप—रणचण्डी हमारी प्रतीक्षा कर रही है । वीरो आओ, हम अकबर को दिखा दें कि किस प्रकार बाईस हजार मेवाड़ी वीर मातृ-भूमि के लिए आठों पहर हथेली पर सिर लिये रहते हैं । जब तक हम में से एक की भी नसों में रक्त है, देह में प्राण हैं, तब तक मेवाड़ के गौरव की ओर कोई उँगली नहीं उठा सकता । मानसिंह ! मानसिंह ! देखो, तुम भी देखो कि अंबर और मेवाड़ के पानी में कितना अंतर है ! !

सभासद्—प्रभो, सेना की रचना किस प्रकार की जाय ? युद्ध-क्षेत्र किसे बनाया जाया ?

प्रताप—हल्दीघाटी से बढ़कर स्थान हमें न मिलेगा। बहादुरो, चलो, मेवाड़ की स्वाधीनता के शत्रुओं को घाटी में घेरकर उनके दाँत खट्टे कर दिये जायँ। उन्हें दिखला दें कि पहाड़ी राजपूतों की तलवार का पानी कितना तेज़ है। मेरे प्यारे साथियो, आज मेवाड़ की आन का युद्ध है। देखो, जब तक प्राणों का एक भी कण सजीव है; राजस्थान की शान में बट्टा न लगने पाय ! चलो, युद्ध की तैयारी करें। आज आनन्द का दिन है !

चंद्रावत—वीरो आज आनन्द का दिन है। क्षत्रिय के लिए रण-वार्ता से बढ़ कर आनन्द स्वर्ग में भी नहीं है। आज इन तलवारों की बरसों की पिपासा शांत होगी। सपूतों का बलिदान देख कर माँ प्रसन्न होगी। स्वर्ग में देवता आरती उतारेंगे। रण-चंडी की छाती ठंढी होगी !

(पट-परिवर्त्तन)

छठा दृश्य

स्थान—युद्ध-भूमि, हल्दीघाटी

(चंद्रावत क्षत-विक्षत योद्धा के वेश में)

चंद्रावत—सर्वनाश निकट है! मेवाड़ का सौभाग्य-सू ' अस्त हुआ चाहता है, चारों ओर मुग़ल-सेना बादलों की तरह छाई हुई है। बीच में अकेले हिन्दू-सूर्य प्रताप प्राणों की बाजी लगा कर दोनों हाथों से तलवार चला रहे हैं। लाखों नर-मुंडों से हल्दीघाटी पाट देने पर भी विजय की आशा व्यर्थ है।

(एक सैनिक का प्रवेश)

सैनिक—सरदार, महाराणा के शरीर में अगणित घाव हो गए हैं, रक्त की धारा निकल रही है। तलवार चलाते-चलाते दोनों थक गए हैं। चेटक घोड़ा मृतप्राय हो गया है, राणा फिर भी पागलों की तरह लड़ रहे हैं। इस विकट समय पर हमें क्या आज्ञा है?

चंद्रा०—कुछ नहीं; राणा के साथ-साथ युद्ध करते जाओ—लड़ते-लड़ते मर जाओ! मैंने उपाय सोच लिया है।

(सैनिक का प्रस्थान)

चंद्रावत—चित्तौड़! जन्मभूमि! प्रणाम! तुम्हारा यह तुच्छ

सेवक आज विदा लेता है। माँ, जीते जी तुम्हें स्वतंत्र न देख सका, अब मर कर देखने की अभिलाषा है। अपने भग्नावशेषों के हाहाकारमय स्वर से एक बार आशीर्वाद दो, माँ, हँसते-हँसते मरने की शक्ति प्रदान करो! जीवन के अंतिम क्षणों में कर्तव्य-पालन करने का अवसर दो! जिस राज-मुकुट को इन हाथों ने, तुम्हारे हित के लिए विलासी जगमल के सिर से उतारा था, उसी को फिर तुम्हारे ही हित के लिए वीरवर प्रताप के मस्तक से उतारेंगे। तुम्हारे सम्मान की रक्षा के लिए—आशा-लता को कुचलने से बचाने के लिए—आज महाराणा प्रताप के बदले यह चंद्रावत प्राणों की आहुति देगा।

(प्रताप का रणोन्मत्त वेश में उधर से गुज़रना)

प्रताप—बस, समय हो गया! साधन चुक गया, अब प्राणों की बारी है। माँ के लिए जीवन बलिदान—

चंद्रा०—मेवाड़ के प्राण! सेवक के रहते स्वामी का बलिदान! राणा के प्राणों का मूल्य है मेवाड़ का सम्मान—चित्तौड़ का उद्धार! इतने सस्ते नहीं हैं ये प्राण! इन प्राणों में संजीवनी शक्ति है, राणा! ये मुझ जैसे एक नहीं लाखों चंद्रावत इंगित-मात्र से उत्पन्न कर

सकते हैं । आप विधाता हैं, हम सृष्टि । अपने बदले हमें मरने दो राणा ! मैंने ही ये राजचिह्न आपके मस्तक पर रक्खे थे, मैंने ही यह भवानी तलवार आपके हाथ में दी थी । मैं ही अब इन्हें वापिस माँगता हूँ । दो, जल्द दो राणा, अब समय नहीं है । क्या दान दोगे ?

प्रताप—क्यों न दूँगा कृष्णा जी ! आप प्रजा के प्रतिनिधि हैं—पूज्य हैं । ये निधियाँ आपकी हैं ! आप ले जा सकते हैं, पर मातृभूमि के स्वाधीनता-यज्ञ में चुप-चाप प्राणों की आहुति देने से इस दरिद्र प्रताप को आप कैसे रोक सकेंगे ? मैं निश्चय कर चुका हूँ सरदार, मैं मरूँगा, देश के लिए मरूँगा, रण से पीठ दिखाकर कलंक का टीका लगवाने के पहले इन प्राणों को माँ के चरणों पर हँसते-हँसते उत्सर्ग कर दूँगा ।

चंद्रावत—साथ ही मेवाड़ के भविष्य को भी सदा के लिए मिट्टी में मिला देंगे । महाराणा ! आप के बाद मुझे ऐसा कोई वीर नज़र नहीं आता जो चित्तौड़ के उद्धार के लिए इतना त्याग कर सके ! हठ न करें, देव, आप स्वदेश की आशा हैं ! आपका यह क्षणिक हठ मेवाड़ की अखण्ड पराधीनता का कारण हो जायगा ।

प्रताप—निश्चय कर चुका हूँ, चंद्रावत जी, जीते जी रण से विमुख न हूँगा। क्षत्रिय परिस्थितियों का दास नहीं, स्वामी होता है। आप ये अपनी निधियाँ लीजिए! मेवाड़ के महाराणा ने देश के लिए एक सामान्य सैनिक के वेश में मरना खूब सीखा है। (फुरती से तलवार पर मुकुट रखकर चले जाते हैं)

चंद्रा०—प्रभो! राणा की रक्षा करो! (मुकुट हाथ में लेते हैं) आ! काँटों के ताज! संकट के स्नेही! मेवाड़ के राजमुकुट! आ! तुझे आज एक तुच्छ सैनिक धारण कर रहा है! इसलिए नहीं कि तू वैभव का राजमार्ग है, बल्कि इसलिए कि तू देश पर मर-मिटनेवालों का मुक्ति-द्वार है! आ, मेरी साधना के अंतिम साधन! इस अवनत मस्तक को माँ के लिए कट-मरने का गौरव प्रदान कर। (मुकुट पहनकर प्रस्थान)

(शक्तसिंह का प्रवेश)

शक्त—(नेपथ्य की ओर इंगित करके) घोर युद्ध हो रहा है! ऐं! चंद्रावत ने मेवाड़ का राज-मुकुट पहन रक्खा है! मुग़लों ने उसे प्रताप समझ कर चारों ओर से घेर लिया है! और वे राणा! एक सामान्य सैनिक के वेश में पागलों की तरह घनघोर युद्ध कर रहे हैं! अरे,

क्या इनके लिए राजमुकुट का कुछ भी मूल्य नहीं है ! हाय, अभागे शक्त, तूने प्रताप को नहीं पहचाना ! इतना त्याग ! इतनी वीरता ! ऐसा संग्राम ! मानों प्राणों की ममता छू भी नहीं गई है ! ऐं ! यह क्या ! उनके घोड़े ने पीठ फेर दी ! हाय अभागा चेटक ! राणा को रण से लेकर भाग रहा है ! सर्वनाश ! राणा लगाम खींच रहे हैं, फिर भी दुष्ट रुकता ही नहीं ! हाय, यह उधर दूसरा वज्रपात ! चन्द्रावत को मुगलों ने प्रताप समझकर मार डाला ! धन्य चन्द्रावत ! धिक् शक्तसिंह ! सीसौदिया-कुल में केवल तू ही नराधम है ! क्षत्रिय का जन्म पाकर भी तेरे भाग्य में ऐसी मृत्यु नहीं बदी थी !

(पट-परिवर्त्तन)

सातवाँ दृश्य

स्थान—कमलमेर

(प्रताप और सामंत)

सामंत—महाराणा !

प्रताप—मत कहो "महाराणा" ! हल्दीघाटी के संग्राम में

सर्वस्व खोकर, माथे पर अक्षय कलंक का टीका लगवा कर, वन-वन में भटकनेवाले अभागे से मत कहो "महाराणा" ! उफ़, इस बार मैंने क्या-क्या नहीं खोया ! चंद्रावत ! त्यागियों का आदर्श चंद्रावत ! मेरे लिए खेल-खेल में मर-मिटा। उसकी याद आते ही हृदय में ज्वाला उठती है ! सेना नहीं, कोष नहीं, दुर्ग नहीं, शस्त्र नहीं, भूमि नहीं, आज इस सर्वस्व-हीन प्रताप के अस्थिर जीवन में महाराणापन का कौन-सा चिह्न शेष है ! फिर क्यों कहते हो "महा-राणा" ? प्रताप आज पथ का भिखारी है।

सामंत—फिर भी संसार-भर के शूरों की श्रद्धा का अधिकारी है। प्रताप का महाराणापन क्षणभंगुर दुर्गों और प्रासादों में नहीं है। प्रताप की अक्षय देशभक्ति, प्रताप का अखंड स्वाधीनता-प्रेम, प्रताप की अमर वीरता, और प्रताप की कठोर तपस्या ही प्रताप का महाराणा-पन है। मेवाड़ के महाराणा की यह अनोखी शान आज समूचे राजस्थान के अभिमान का कारण है !

(राजपूतों का प्रवेश)

राजपूत—वज्रपात हो गया राणा ! मुग़लों से घिरे हुए कमलमेर की रसद तो चुक ही चली थी, आज शत्रुओं

ने उसके एकमात्र जलाशय में भी ज़हर मिलवा दिया। अब कैसे रत्ता हो ? क्या हमें प्यास से तड़प-तड़प कर प्राण दे देने पड़ेंगे ?

प्रताप—कदापि नहीं। मेवाड़ी वीर कायरों की तरह नहीं मरा करते। जाओ सैनिक, बचे हुए साथियों की प्यास आज जल से नहीं, शत्रुओं के उष्ण रक्त से बुझेगी। लड़ते-लड़ते मरने ही में स्वदेश के सच्चे सैनिकों का गौरव है।

(सामंत और राजपूत का प्रस्थान)

प्रताप—जगन्नियंता की क्या यही इच्छा है ? अच्छा है। जो कुछ हो रहा है, अच्छा है। पल-पल पर मृत्यु से मुठभेड़ करने में भी एक आनन्द है। जीवन और मरण के इस संधि-स्थल पर भी एक सुख है। अच्छा तो फिर विलंब क्या ? हर-हर-महादेव ! (जाना चाहते हैं)

(मुगलों की एक टुकड़ी का प्रवेश)

मुग़ल—पकड़ लो, बाँध लो। जाने न पाय। यही है काफ़िर प्रताप, यही है मेवाड़ की हेंकड़ी, यही है बहादुरी की दुम !

प्रताप—तुम ! तुम मुझे पकड़ोगे ? मूर्खों, जब तक यह भवानी इन हाथों में है इस शरीर के एक रोम

का भी स्पर्श तुम्हारे लिए मृत्यु का स्पर्श है ! सावधान ! (प्रहार)

(एक की मृत्यु, औरों का पलायन। दूसरे ही क्षण, चारों ओर से कोलाहल, "लेना, पकड़ना, मारना" की ध्वनि)

प्रताप—प्यारी तलवार! सम्हल, शत्रु समीप आ रहे हैं। तेरी सहायता का शायद यही अन्तिम अवसर हो। मृत्यु से आठों-पहर हाथापाई करने वाले क्षत्रियों का तेरे सिवाय और कौन सहचर हो सकता है! किस में इतना साहस है ? (रणोत्सुक)

(शीघ्रता से कुछ भीलों के साथ भीलराज का प्रवेश)

भीलराज—निश्चिंत रहें महाराणा ! आप हमारे अतिथि हैं। आप उस प्यारे मेवाड़ के रक्षक हैं, जिस के अन्न-जल से हमारी नस-नस सिंची पड़ी है। आपकी तपस्या के चरणों पर हम आज अपना हृदय चढ़ाते हैं। विश्वास रखिए इस पहाड़ी भील-जाति की काली धमनियों में रक्त की एक बूँद भी शेष रहते मुग़ल मेवाड़ की ओर आँख उठा कर नहीं देख सकते।

प्रताप—धन्य हो तुम, मेरे संकट के साथी! बाप्पा रावल का वीर-वंश ही नहीं, मेवाड़ का बच्चा बच्चा तुम्हारी सहायता के लिए सदैव कृतज्ञ रहेगा ! मेवाड़ के लिए

तुम्हारे हृदय में इतना प्रेम है ! आज से तुम मेरे शरीर के ही नहीं—आत्मा के भाई हो। (गले लगाते हैं)

भील०—स्वदेश के रक्षक की रक्षा के लिए सर्वस्व निछावर करने में भील-जाति का गौरव है।

प्रताप—मेरी रक्षा ! मेरी रक्षा की चिंता न करो भीलराज ! तलवार हाथ में लेते ही क्षत्रिय प्राणों की चिंता छोड़ देते हैं। तुम्हें यदि मेवाड़ को अपना चिर-ऋणी बनाना है, तो जाओ रानी और उसके दुध-मुँहे बच्चों की रक्षा का प्रबन्ध करो।

भीलराज—मेवाड़ की महारानी और राजवंश के दीपक आज से हमारे हृदय के दीपक बनेंगे। और आप ! आपके इशारे पर सिर दे देना तो सारी भील-जाति एक खेल समझती है। (प्रस्थान)

प्रताप—अब प्रताप निश्चिन्त है। सावधान ! सिंह की माँद पर घेरा डालने वाले गीदड़ो, सावधान ! प्रताप अभी तुम्हारी छाती फाड़कर बाहर निकलता है। (प्रस्थान)

(पट-परिवर्तन)

आठवाँ दृश्य

स्थान—वन

[प्रताप, सामंत और भीलराज]

सामंत—कष्ट-सहन की भी कोई सीमा होती है । देशभक्तों के भी हृदय होता है । स्वाभिमान और स्वाधीनता की रक्षा भी क्या कोई पाप है, जिसके लिए मेवाड़ के महाराणा को आठों-पहर मौत के मुँह में रहना पड़े ! हृदय में टीस उठती है जब हम एक ओर भारत के सपूत प्रताप को वन-वन भटकते देखते हैं, मेवाड़ की दयालु रानी-माँ को कंटकाकीर्ण पथों पर नंगे-पाओं चलते देखते हैं और राजस्थान के हृदय-दीपक छोटे-छोटे राजकुमारों को घास-पात की रोटी के लिए मचलते, बिलखते और लड़ते देखते हैं; साथ ही दूसरी ओर मानसिंह-सरीखे देश-द्रोही को फूलते-फलते देखते हैं । यह संसार बड़ा विषम है । यह ईश्वर बड़ा निष्ठुर है !

[राणा सुनकर ठंढी साँस लेते हैं]

भील०—क्या कहा ! ईश्वर ! कहाँ है ईश्वर ? यह तुम्हारा भ्रम है सामंत जी ! जो है ही नहीं—वह निष्ठुर कैसा ! आज दो दिन से लगातार जंगलों में भटक रहे हैं,

अब ज़रा अवकाश मिला है, भूखे बच्चों के लिए थोड़ा-सा घास-पात जुटा है। बेचारी महारानी ने एक रोटी बनाई है। दोनों बच्चे उसके लिए आपस में झगड़ रहे हैं। मेवाड़ के राजवंश की यह दुर्दशा—स्वाधीनता के लिए जान लड़ाने का यह पुरस्कार! अब नहीं देखा जाता। हृदय फटा जाता है। यदि ईश्वर होता तो क्या ये दिन देखने पड़ते!

(राणा ठंढी साँस लेते हैं, नेपथ्य से शिशुओं की रोदन-ध्वनि)

सामंत—देखो तो भीलराज, क्या बात है!

(भीलराज का प्रस्थान, शीघ्र ही लौटना)

भील०—गज़ब हो गया राणा, भूखे बच्चों के हाथ से वन-बिलाव रोटी छीन ले गया। पास में कोई फल-फूल नहीं और दूर जाने की शक्ति नहीं। अब क्या होगा?

प्रताप—क्या होगा? दुधमुँहे बच्चों को भूख से तड़प-तड़प कर इस निर्जन वन में प्राण देना होगा, स्वाधीनता और स्वाभिमान की रक्षा का जो पुरस्कार मिला करता है, वही मिलेगा और क्या होगा? स्वतंत्रता के पुजारी प्रताप को आज छाती पर पत्थर रखकर स्वजनों की अकाल-मृत्यु देखनी होगी। अपनी आँखों के आगे अपने अबोध बच्चों और प्यारी रानी को रोटी के

टुकड़ों के लिए बिलख बिलख कर मरते देखना होगा। गर्व करना होगा, स्वाभिमान से सिर उठा कर चलना होगा, स्वतंत्रता का संगीत सुनना होगा, वाह रे स्वाभिमानी, वाह रे देशभक्त! कितना सुन्दर स्वाभिमान है, कैसी सुखकर स्वाधीनता है कैसी बढ़िया देशभक्ति है!

भील०—वज्रपात हो गया राणा! इस कुसमय में मुग़ल-सेना भी इधर ही चली आ रही है। शीघ्र चलिए, अन्यथा राजवंश की प्राण-रक्षा असम्भव हो जायगी।

प्रताप—राजवंश की प्राण-रक्षा! कैसा सुन्दर स्वप्न है! हः हः हः! राजवंश की प्राण-रक्षा! भूख से तड़प-तड़प कर जान देनेवाले अभागे प्राणियों की प्राण-रक्षा! जीवन से ऊबे हुओं को चिर-जीवन-दान! कैसा सुंदर उन्माद है! हः हः हः हः। (विकट हास्य)

सामंत—राणा जी, शीघ्रता कीजिए। नहीं तो शत्रुओं से प्राण बचाना कठिन हो जायगा!

प्रताप—प्राण बचाना! मूर्ख हो सामंत! प्राण इस प्रकार बच कर क्या करेंगे? घड़ी-भर बाद फिर भूख-प्यास से तड़प तड़प कर मरेंगे! मैं सैनिक हूँ, लड़ते-लड़ते प्राण दूँगा! पर बच्चे क्या करेंगे! क्षत्रिय के बालकों को कुत्ते की मौत मरना होगा—

सामंत—ऐसा न कहें राणा, बच्चों की प्राण-रक्षा करनी होगी—सर्वस्व लुटाकर भी करनी होगी। यह दुर्दशा असह्य है!

प्रताप—सर्वस्व लुटाकर—सबसे प्यारी वस्तु ठुकरा कर! अच्छा वही होगा! निरपराधों की रक्षा होगी, समझे सामन्त! चिन्ता न करो, भय न करो।

सामंत—किन्तु निश्चिन्त बैठने से तो काम न चलेगा राणा! यह स्थान छोड़ना ही पड़ेगा।

प्रताप—क्यों? क्या प्रताप चोर है, ठग है, लुटेरा है, पापी है जो कायरों की तरह अपने बच्चों के प्राण छिपाता फिरे? निश्चिन्त हो सामंत, सर्वस्व देकर भी शिशुओं की रक्षा की जायगी। अकबर मेवाड़ी प्राणों का आदर करता है। अब प्रताप पथ का भिखारी न रहेगा, अब प्रताप के बच्चे दाने-दाने को मुहताज न रहेंगे, अब मेवाड़ की महारानी लकड़ियाँ न बीनेगी, अब तुम लोगों को मेरे लिए ये कष्ट न उठाने पड़ेंगे। आने दो, मुगलों को समीप आने दो, वे हम पर प्रहार करने के बदले हमारा सत्कार करेंगे। हमें कहीं न जाना होगा, कुछ न करना होगा, समझे सामन्त, केवल दो अक्षर काफी होंगे—एक शब्द बहुत होगा। लीजिए,

आप ही की इच्छा पूर्ण हो, सर्वस्व लुटाकर भी शिशुओं की रक्षा करनी चाहिए! क्यों न? ह: ह: ह:!

(मुगलों की ध्वनि समीपतर, सामन्त तलवार और भीलराज तीर सम्हालते हैं)

प्रताप—बस बंद करो! तीरों और तलवारों का समय बीत गया। सामंत, तलवार म्यान में करो। भीलराज, तीर तरकश में रखो। अब तलवार के बदले क़लम चलेगी। बुलाओ इस दल के मुखिया को! लाओ कागज़-कलम। सुनते नहीं! शीघ्रता करो! अब प्रताप जंगली प्रताप नहीं रहा—अब प्रताप पथ का भिखारी नहीं रहा! ह: ह: ह:!

(राणा का विकट हास्य, बच्चों का रोदन)

प्रताप—हाँ, खूब रोओ, बच्चो, जब तक सब कुछ समाप्त न हो ले, रोना बंद न करो! लाओ सामंत, कहीं से कागज़-क़लम लाओ! आज्ञा-पालन करो।

(सामंत विषण्णभाव से लाकर देता है। राणा लिखते हैं)

(एक मुगल का प्रवेश)

प्रताप—सैनिक, जाओ हम संधि करेंगे।

मुगल—(ज़मीन तक झुककर) जो हुक्म महाराणा! अब आप बेफिक्र रहें। (प्रस्थान)

प्रताप—भीलराज ! लो यह पत्र फौरन अकबर के पास पहुँचवाओ !

सामंत—यह क्या राणा ! यह क्या ! आज ये अभागी आँखें अग्नि को शीतल होते देख रही हैं !

प्रताप—ठीक देख रही हैं सामन्त ! अपनी ज्वाला से आप ही भस्म हो जानेवाली अग्नि का शीतल हो जाना ही स्वाभाविक है। राणा को उपदेश देने से क्या लाभ ? उन दुधमुँहे बच्चों के पेट से पूछो वह उपदेश सुन सकेगा ? उस अभागिनी रानी की गीली आँखों से पूछो, वे उपदेश सुन सकेंगी ? निश्चय कर चुका हूँ सामंत ! अब उपदेश व्यर्थ है ! व्रत मैंने लिया था, इन्होंने नहीं ! तुम्हीं ने तो अभी कहा था सामंत, कि "कष्ट-सहन की भी कोई सीमा होती है, देशभक्तों के भी हृदय होता है !" समय हो चुका, जाओ भीलराज, शीघ्र जाओ !

(बच्चों की रोदन ध्वनि आती है)

प्रताप—हाँ, रोओ, प्यारे बच्चो, और रोओ ! रोने की बड़ी आवश्यकता है—हः हः हः—रोने की बड़ी आव-आवश्यक है। (कठोर हास्य)

(पट-परिवर्तन)

नौवाँ दृश्य

स्थान—मुगल दरबार

(अकबर, मानसिंह, पृथ्वीसिंह, कुछ चुने हुए मुग़ल और राजपूत सरदार)

अकबर—क्यों राजा साहब, क्या प्रताप अभी तक मुग़ल सल्तनत को सर झुकाने से इन्कार करता है ?

मान०—बेशक। अभी तक उसने अपनी आदत नहीं छोड़ी है। जंगलों में मारा-मारा फिर रहा है, दाने-दाने को मुहताज है, बाल-बच्चे तबाह हो रहे हैं फिर भी ज़िद नहीं छोड़ता। जहाँपनाह, इसे सिवा उसकी नासमझी के और क्या कहा जा सकता है।

पृथ्वी०—(व्यंग से) कुछ नहीं। और कोई शब्द राजा साहब की ज़बान से निकल ही कैसे सकता है ?

अकबर—हमारी फ़ौजें दिन-रात उसे घेरे रहती हैं। आख़िर कोई कब तक जंगल-जंगल मारा फिर सकता है ? मेरा तो ख़याल है कि अब वह ज़्यादा दिनों तक इस तरह न रह सकेगा।

मान०—कहाँ तक रह सकेगा शाहंशाह, आख़िर सब्र की भी तो कोई हद होती है।

अकबर—(स्वगत)—ख़ाक होती है, ख़ुशामद भी दुनियाँ में कैसी बुरी चीज़ है ! इन लोगों को सच्ची राय तक देने में इतनी हिचकिचाहट होती है, यह देख कर तरस आता है।

(दरबान का प्रवेश)

दर०—जहाँपनाह, मेवाड़ से राजदूत आया है।

अकबर—(साश्चर्य) मेवाड़ से दूत !

राजपूतगण—मेवाड़ से दूत !

दर०—जी हाँ, जहाँपनाह !

अकबर —अच्छा, उसे इज्ज़त के साथ लिवा आओ।

दर०—जो हुक्म खुदाबंद ! (प्रस्थान)

मान०—(स्वगत) मेवाड़ से दूत ! अगर यह सच हो, तो मानसिंह के अपमानित हृदय की ज्वाला ठंढी हो जाय !

अकबर—(स्वगत) मेवाड़ से दूत ! हाय सारी सल्तनत को लुटाकर भी—राह का भिखारी बनकर भी अकबर इस खबर की सचाई इन आँखों से देख सके तो अपने को दुनियाँ का सब से बड़ा खुशक़िस्मत समझे !

(राजपूत का प्रवेश)

दूत०—मेवाड़ के महाराणा ने यह पत्र भेजा है। मैं बाहर उत्तर की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। (पत्र देकर प्रस्थान)

(अकबर पत्र पढ़ने लगता है। सभा में सन्नाटा। सब जिज्ञासुभाव से उसके मुख की ओर देखते हैं। उसके मुख पर धीरे-धीरे प्रसन्नता झलकती है, पृथ्वीसिंह विचार-मग्न होता है।)

अकबर—बरसों की इन्तज़ार का मीठा फल कितना प्यारा होता है, राजासाहब, आज समझ रहा हूँ। प्रताप-सरीखे जवाँमर्द दुश्मन को दोस्त बनाना कितना महँगा होता है, आज समझ रहा हूँ। क्यों पृथ्वीसिंह जी ठीक है न?

पृथ्वी०—अगर जहाँपनाह ग़लत नहीं समझ रहे हैं, तो ठीक ही होगा!

अकबर—ग़लत! इसमें ग़लत हो ही क्या सकता है? ख़त सामने है, साफ प्रताप का ख़त है, फिर भी ग़लत है! तुम्हारे शक्की मिज़ाज की भी अजीब हालत है, कविराज!

पृथ्वी०—(व्यंग्य से) मालूम होता है इसके पहले भी राणा प्रताप जहाँपनाह की ख़िदमत में दो-चार सुलहनामे भेज चुके हैं, तभी तो शाहंशाह ने उनका ख़त पहचान लिया।

(अकबर व्यंग से चुटीला हो जाता है, पर कहता कुछ नहीं)

मान०—इसमें इतनी झंझट की ज़रूरत ही क्या है? ख़त की जाँच होते ही सब साफ़ हो जायगा।

अकबर—बिलकुल ठीक! राजा साहब ने खूब सुझाई!

(कुछ देर विचारमग्न)

अकबर—(सहसा सिर उठा कर) अच्छा पृथ्वीसिंह जी, आप का भी तो प्रताप से कोई रिश्ता है! आप तो उनका ख़त ज़रूर पहचानते होंगे। लीजिए, आप ही ज़रा गौर से देखिए।

पृथ्वी—[पत्र लेकर, कुछ देर तक गौर से देखने के बाद]—(स्वगत) यह क्या! असंभवता आज संभवता के चरणों पर झुक रही है! हाय राणा, किस दुर्दिन ने यह प्रेरणा की! कैसे विश्वास करूँ? पर अविश्वास भी कैसे करूँ। (प्रकट) शाहंशाह, मैं दस्तख़त पहचानता हूँ। ये दस्तख़त प्रताप के..........

अकबर—(बीच ही में) मैंने तो पहले ही कहा था कि ये दस्तखत प्रताप ही के हैं। आपने फ़िज़ूल इतना शक-शुबहा और बहस-मुबाहिसा किया।

पृथ्वी०—ग़ज़ब न करें जहाँपनाह! पहले पूरी बात तो कह लेने दें!

अकबर—कहिए, आप क्या कहना चाहते हैं ? यही न कि ये दस्तख़त प्रताप के हैं।

पृथ्वी०—जी नहीं ! (सभा में विस्मय)

अकबर—जी नहीं ?

पृथ्वी०—जी नहीं ! हज़ार बार नहीं ! ये दस्तख़त प्रताप के हैं ही नहीं !

अकबर—क्या कह रहे हैं कविराज ?

पृथ्वी०—यही कि ये दस्तख़त प्रताप के नहीं हैं। मुझे शक होता है, शाहंशाह को फिज़ूल परेशान करने के लिए किसी दुश्मन ने यह जाल रचा है। अगर यक़ीन न हो तो मैं अभी राणाजी को खत लिख कर दरयाफ्त करता हूँ और इस सुलहनामे की असलियत का पता लगाता हूँ।

अकबर—क्या कहा ? जाल है ! दुश्मन का जाल है ! अफ़सोस ! (मानसिंह से) मेरा जी अच्छा नहीं है राजा साहब, मैं ज़रा आरामगाह में जाना चाहता हूँ। आप फौरन जाकर उस मेवाड़ी दूत को क़ैद करें !

(प्रस्थान)

(धीरे-धीरे दरबारियों का प्रस्थान, पृथ्वीसिंह अकेला)

पृथ्वी०—वज्रपात हो गया ! हाय राणा ! भारतवर्ष के अंधकार-

मय दुर्भाग्य में आपका स्वाभिमान एक-मात्र तेजस्वी दीपक था; क्या उसे इस दुर्दिन में क्षण-भर को भी बुझना सोहता है ? हाय रे अभागे देश ! सर्वस्व खोकर भी सबक नहीं सीखा । इस बचे-खुचे लाल की भी धन-जन से रक्षा न कर सका। हाय क्या करूँ ? मुझ-जैसा अभागा इस दुर्दशा में कर ही क्या सकता है ? (कुछ देर विचारमग्न और निराश, फिर सहसा चैतन्य होकर) बस यही ठीक है। पत्र लिखूँगा ! अपने जीवन की, यौवन की, हृदय की समस्त शक्ति लगा कर—समस्त साधना एकत्र कर—एक—केवल एक—उत्तेजक पत्र लिखना होगा ? पृथ्वीसिंह ! अभागे कवि ! क्या तेरी कविता इस कठिन समय पर कुछ काम न आयगी, क्या वह जन्म-भर नरक के कीड़ों ही की भोग-वस्तु बनी रहेगी ! (प्रस्थान)

(पट-परिवर्तन)

दसवाँ दृश्य

(प्रताप और सामंत)

प्रताप—कहते हो 'धैर्य धरिए' ? किस लिए ? कुछ भी शेष न रहने पर जो शेष था, जिसके शेष रहते सर्वनाश

भी स्वर्ग प्रतीत होता था, अब तो वह भी गया! कहते हो 'धैर्य धरिये' ! इस हृदय से पूछो सामंत ! इतनी दाह, इतना दर्द, इतनी कसक और भी कभी इसमें हुई थी, इन थोड़े-से दिनों में मेरी आत्मा पर कितनी बार चित्तौड़ की धुँधली आँखों के आँसू बरसे हैं, मुझ से पूछो ! उफ ! उनके एक-एक कण में प्रलय का एक-एक महाज्वार और दावादग्ध सागर भरा हुआ था। क्या कहूँ ? उसकी स्मृतिमात्र से अन्तस्तल में एक साथ हज़ारों बिच्छुओं के दंशन की-सी पीड़ा होती है। हाय, मेरा वह स्वर्ग से भी महँगा पागलपन, जीवन-भर जलकर भी—रो-रोकर भी—क्या मुझे अब वापिस मिल सकेगा ? मैंने अपने प्राणों से प्यारे मर्म पर अपनी ही चुटकी से तीर छोड़ा है। क्या वह लौट सकेगा भाई ?

सामंत—विकल न हों देव, अभी अवसर है। चित्तौड़ की आशा-लता अभी सूखी नहीं है, भयंकर ग्रीष्म के बाद वर्षा और भी शीतल प्रतीत होती है। क्षण-भर आँखें मूँद कर फिर प्रकाश की ओर देखने से वह विद्युत् की तरह चकाचौंध पैदा करता है। विकल न हों देव, स्वदेश के हृदय-सम्राट्, एकमात्र प्राणाधार, तुम तो

कभी 'अपने' को भूलते न थे ! उठो ! एक बार फिर उठो !

प्रताप—तुम्हारे शब्दों में बड़ा बल है सामंत, बड़ी स्फूर्ति है, बड़ा आश्वासन है, बड़ा प्रोत्साहन है ! हृदय में बिजली-सी चमक उठती है। इच्छा होती है एक बार—अंतिम बार—फिर पागल बना जाय, नवीन सृष्टि की जाय—हृदय के सर्वोच्च आसन पर स्वाधीनता देवी की प्रतिमा प्रतिष्ठित की जाय, उसके आस पास अखंड पहर दिया जाय—जब तक आँखें सदा के लिए बंद न हो जाएँ क्षण भर भी चैन न लिया जाय। विश्वामित्र के तप की तरह असिधारा-व्रत से दिल्ली के देवताओं के आसन हिला दिया जाय !

सामंत—स्वाधीनता के 'होता', आपकी 'स्वाहा' पर अब भी मुट्ठी-भर मेवाड़ी वीर सहर्ष 'समिधा' बनने को प्रस्तुत हैं।

प्रताप—मालूम होता है, अभी माँ ने मेरा निर्माल्य ठुकराया नहीं है। अब भी उसके उदार चरणों में इस कपूत के लिए, थोड़ा सा स्थान सुरक्षित है। प्रस्तुत हूँ सामंत ! इस महापाप का कठोर प्रायश्चित करना ही होगा। निरंतर साधना की—कष्टों की—आग में तिल-तिल जल-जल कर आत्मशुद्धि करनी ही होगी।

धधकाओ, फिर एक बार ज्वाला धधकाओ। जो न्याय है, ध्रुव सत्य है, उसका आग्रह—उसका हठ—मर कर भी छोड़ना अनुचित है। चलो, शीघ्रता करो भाई। जो शीघ्रता पाप में मोह कहलाती है, वही पुण्य में साहस बन जाती है। चलो शीघ्र ही युगधर्म का पालन करें।

(भीलराज का प्रवेश)

भील—महाराणा ! पृथ्वीसिंह का दूत यह पत्र लाया है।

(पत्र देता है)

प्रताप—किसका ? पृथ्वीसिंह का दूत ! अच्छा ! (पत्र पढ़कर) कहाँ है वह ? पृथ्वीसिंह से कहला दो—"चिंता न करो, प्रताप अपने प्रण पर अटल है। तुम्हारे पत्र का उत्तर क़लम से नहीं; शीघ्र ही तलवार की धार से दिया जायगा। अकबर को इस बार खूब सावधान कर देना।" और तुम भीलराज ! जाओ शीघ्र युद्ध की तैयारी करो, हम अभी घेरा तोड़ कर—बन्धन काट कर बाहर निकलते हैं। स्वाधीनता या मृत्यु दोनों में से एक को गले लगाते हैं। उसके बाद, यदि हम जीवित रहे तो संसार देखेगा कि हम कुछ ही दिनों में मेवाड़ का एक-एक कोना किस प्रकार अकबर से छीन लेते हैं।

भील०—उसकी अभी से आशा कैसे करें ? केवल हमारे प्राण हमारे हाथ में है, हम उन्हें देश के नाम पर चाहे जब निछावर कर सकते हैं—जलती आग में झोंक दे सकते हैं, पर विजय तो हमारे हाथ में नहीं है—हमें उसकी आशा न करनी चाहिए !

सामंत—क्यों ? विजय के मार्ग में कौन बाधा दे सकता है भीलराज ?

भील०—अर्थाभाव ! मैं भी आदर्शवादी हूँ सामंत ! मेरे हृदय में भी बड़ी-बड़ी उमंगें उठा करती हैं। मैं भी आठों पहर प्राणों को हथेली पर लिये घूमता हूँ । पर क्या करूँ ? जो नग्न सत्य है, वह कहाँ तक छिपाया जा सकता है ? संसार के साहसी वीर 'कोष' की कथा बहुत कम याद रखते हैं, यह सत्य है, पर संसार—स्वार्थी संसार—उसे बहुत महत्त्व देता है । वह उन सोने-चाँदी के चमकीले टुकड़ों को प्राणों से भी प्यारा समझता है। देखते नहीं हो सामंत ! उन्हीं की चमक-दमक पर दुनियाँ की हाट में चिरकाल से देश-धर्म, मान-सम्मान, आत्मा-हृदय, विद्या-बल, सब-कुछ बिकता आया है। आज भी बिक रहा है।

सामंत—जो बेचते हैं, वे मनुष्य नहीं नरक के कीड़े हैं

भीलराज! स्वदेश के सच्चे सैनिक उन टुकड़ों पर घृणा की ठोकर मारते हैं। जिनके हृदय में स्वाधीनता की आकांक्षा निरंतर आग की तरह सुलगा करती है, उन पर चाँदी-सोने का जादू नहीं चलता! प्रलोभनों पर विचार करने को भी उन्हें अवकाश नहीं मिलता। वे केवल कर्तव्यपालन किया करते हैं। अर्थाभाव! अर्थाभाव हमारी विजय में बाधक नहीं हो सकता—कदापि नहीं हो सकता। यदि हमारे हृदय में स्वाधीनता की सच्ची लगन है, तो लक्ष्मी किसी न किसी दिन हमारे चरण चूमेगी।

(भामाशाह का प्रवेश)

भामाशाह—किसी दिन क्यों? अभी चूमेगी सामंत! इस पुराने सेवक को भूल तो नहीं गए महाराणा? इस अभागे ने जीवन-भर मेवाड़ का नमक खाया है। वह इसकी हड्डियों में भिद गया है। किंतु, आज इन हाथों में इतना बल नहीं कि आपके साथ स्वाधीनता-संग्राम में तलवार चला सकें। इस हृदय में इतना साहस नहीं कि युवकों को ललकार कर पुकार कर समरभूमि में एकत्र कर सके। मैं अधम हूँ देव! मुझ में कोई शक्ति नहीं—कोई गुण नहीं! सारे जीवन

की साधना क्या है ? कुछ नहीं। केवल तुच्छ धन ! केवल घृणास्पद चाँदी-सोना ! हृदय का बंधन—आत्मा का भार ! उसे बटोर कर ले आने पर भी इन चरणों में रखने का साहस नहीं होता ! और यह शक्तिहीन हृदय, बलहीन आत्मा और तेजोहीन शरीर ! यह भी किसी काम का नहीं ! (चरणों में गिरकर) क्या इसे चरणों में भी स्थान न दीजियेगा ? प्रभो, स्वामी मेरे !

प्रताप—(उठाकर गले लगाकर) भामाशाह ! भाई ! कौन कहता है, तुम्हारी आत्मा बलहीन है—हृदय शक्ति-हीन है ! तुम्हारा उदाहरण चिरकाल तक संसार के अर्थपिशाचों की आँखें खोलता रहेगा। तुम महान् हो भाई ! तुम्हारा त्याग कितना उज्ज्वल है ! सारे जीवन की श्रम-संचित संपदा को इस प्रकार निर्भय होकर लुटा देना—पानी की तरह बहा देना—कंकड़ पत्थर की तरह ठुकरा देना क्या हँसी-खेल है ? इसके लिए अत्मा में बड़े प्रखर प्रकाश की—बड़ी प्रबल प्रेरणा की आवश्यकता होती है। भामाशाह ! इस बुढ़ापे में भी तुम्हारा यह उत्साह देखकर—स्वाधीनता की इतनी प्रबल प्यास देखकर हज़ारों युवकों के मस्तक झुक जाएँगे । स्वागत है वीर, मातृ-भूमि के

स्वाधीनता-यज्ञ में तुम्हारी सर्वस्वाहुति का हृदय से स्वागत है !

भील—तुमने आज मुरझाती आशा-लता को सहसा आकर नवजीवन दिया है, भामाशाह ! यह मेवाड़ कभी न भूलेगा !

सामंत—अब विलंब क्यों राणा ?

प्रताप—अब विलंब क्यों ? अभागे हृदय ! प्रस्तुत हो जा ! अब भी अवसर है । तेरी क्षणिक दुर्बलता एक बार मेरे जीवन-भर की दृढ़ता पर—निग्रह पर—साधना पर—पानी फेर चुकी है । उस पाप का प्रक्षालन करने को प्रस्तुत हो जा । याद रख, यह नवजीवन है—वज्र से भी कठोर, हिमालय से भी अटल ! सर्वनाश की कर्कश नींव पर इसकी प्रतिष्ठा हुई है ! अब कभी भूल कर भी विचल न होना, नहीं तो सत्य कहता हूँ, इसी खड्ग से तेरे टुकड़े-टुकड़े करके माँ की भेंट चढ़ा दूँगा । भीलराज ! चलो, युद्ध की तैयारी की जाय ! मेवाड़ के वनों, पर्वतों, ग्रामों और कोने-कोने में एक बार फिर समर-यज्ञ का आयोजन हो । एक बार फिर विद्युत् की चमक बनकर स्वाधीनता हमें आशीर्वाद दे । हर-हर महादेव ! (प्रस्थान)

(पट-परिवर्तन)

ग्यारहवाँ दृश्य

(राणा का घर । भीलराज का प्रवेश)

भीलराज—द्वारपाल ! द्वारपाल !! अरे कोई है ?

द्वारपाल—(नेपथ्य से) आया पृथ्वीनाथ ! (द्वारपाल का प्रवेश)

द्वारपाल—क्या आज्ञा है !

भील०—ऐसे समय भी तुम अपने स्थान पर नहीं रहते ! जानते नहीं हो मूर्ख ! राणा की अवस्था अच्छी नहीं है । जाओ, जल्द युवराज को ढूँढ लाओ । कई दिनों से उनका पता नहीं है । राणा उन्हें याद करते हैं ।

(द्वारपाल का एक ओर जाने लगना, दूसरी ओर से अमरसिंह का आना)

भील०—ऐ ! रहो ! युवराज इधर ही आ रहे हैं । (द्वारपाल रुककर दूसरी ओर जाता है)

अमर—क्या है ? यह काहे का कोलाहल है ? जानता हूँ, सैनिक हो ! पर यह रणभूमि नहीं है। सभ्य पुरुषों के रहने का स्थान है !

भील०—राणा की अवस्था अच्छी नहीं है युवराज ! वे कई दिनों से आपको याद कर रहे हैं। अन्तिम युद्ध में उन्होंने जो घाव खाए हैं, वे उन्हें पीड़ा पहुँचा रहे हैं।

(प्रस्थान)

अमर—लक्षण अच्छे नहीं जान पड़ते। इस अवस्था में इतना युद्ध करना, इतनी चिंता करना, पूरा खाना न खाना, पूरी नींद न सोना भी तो बुरा होता है। अकेला चित्तौड़ रह गया, रह जाने दें, उसमें अब बचा ही क्या है ? पर सुनता कौन है ? मुट्ठी-भर खँडहरों के लिए यह कौन खटपट ! (प्रस्थान)

(पट-परिवर्तन)

बारहवाँ दृश्य

(राणा मृत्यु-शय्या पर पड़े हैं। पास में सामंत, भीलराज तथा सभासद् गण)

प्रताप—दीपशिखा देखी है सामंत ? बुझने के पहले वह एक बार बड़े वेग से जल उठती है और फिर उसी क्षण बचे-खुचे-स्नेह का—सर्वस्व का—बलिदान कर अन्तिम

समय आत्मा को एक ही बार व्यक्त कर देती है। बुझने के पहले कुछ सन्देश दे जाती है। यही उसकी जीवन-भर की साधना का साफल्य है। न जाने क्यों आज मेरी छाती फटी जा रही है। हृदय एक बहुत बड़ा भार उतार देने को विकल हो रहा है। इच्छा होती है, जीवन का समस्त स्वर एकत्र कर, एक ही शब्द में एक ही बार में कुछ कह दिया जाय, और फिर उसी क्षण प्राण छोड़ दिए जायँ।

सामंत—वैद्यजी ने शांतिपूर्वक विश्राम करने को कहा है राणा! यह उत्तेजना हानिकारक होगी?

प्रताप—हानि! मरते समय मैं हानि-लाभ में भेद कैसे करूँ सामंत? हानि तो इस जीवन की अमर कहानी बन गई है। और लाभ? वह अन्त तक एक सुन्दर स्वप्न ही बना रहेगा! मैंने क्या-क्या नहीं खोया भाई? और पाया क्या? कुछ नहीं! जीवन में अधिक कुछ चाहा भी तो न था!—केवल एक चीज़! वह भी नहीं मिली! सारा जीवन यों ही बीत गया! ओह बड़ी वेदना होती है। क्या कहते हो? 'उत्तेजना'! 'आवेग!'—इनसे भय क्यों? ये तो जीवन के कोमल-से कोमल क्षणों में साथी रहे हैं?

सामंत—आपका स्वास्थ्य अच्छा नहीं है राणा ! मुझे भय है कहीं……..

प्रताप—हाँ-हाँ, कहो, रुक क्यों गए ? "कहीं प्राण न निकल जायँ ?" हः हः, इन प्राणों पर तुम्हारी इतनी ममता व्यर्थ है सामंत ! इस जीवन की अब कोई सार्थकता नहीं—इन प्राणों का कोई उपयोग नहीं। कोई आशा नहीं ! कोई भरोसा नहीं !

सामंत—इतने निराश न हों राणा ! मेवाड़ी वीर अब भी आपकी हुंकार पर प्रलय मचा दे सकते हैं ! कल ही, सत्य कहता हूँ, कल ही, यदि आप स्वस्थ हो जायँ, तो हम लोग प्राणों पर खेलकर चित्तौड़ का उद्धार कर लें।

प्रताप—अब समय नहीं है भाई ! जीवन की घड़ियाँ इतनी समीप होती जा रही हैं कि बीच की कोई वस्तु नज़र नहीं आती। हाँ आगे की आशा कर सकता हूँ। प्राणों के समस्त स्वर को एकत्र करके मरने के पूर्व एक बार अपनी प्यारी कामना प्रकट कर सकता हूँ। मैं क्या चाहता हूँ, जानते हो सामंत ? मैं चाहता हूँ कि इस पीड़ित भारत वंसुधरा पर कभी कोई ऐसा माई का लाल पैदा हो, जिसके हृदय-रक्त की अंतिम बूँदें

इस के स्वाधीनता-यज्ञ में पूर्णाहुति दें; इसे सदा के लिए स्वाधीन कर दें; जिसके इंगित पर, बरसों के बिछुड़े हुए कोटि-कोटि भारतीय एक सूत्र में बँध कर सर्वस्व बलिदान करने मातृ-मंदिर की ओर दौड़ पड़ें। मेरी प्रतिज्ञा तो अधूरी रह गई सामंत ! हृदय में अतृप्ति की एक आग छुपाए जा रहा हूँ ! उफ़ (अंत)

सामंत—राणा ! यह क्या ? हा दुर्दैव सब समाप्त हो गया !

(अमरसिंह का प्रवेश)

अमर—हाय पिताजी, यह न सोचा था !

सामंत—अभागे हो अमर ! अब आए हो !!

[पटाक्षेप]
